मूल्य : ३ ००

गौरी शकर शर्मा, भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली द्वारा
प्रकाशित एवं राजेन्द्र प्रिटर्स, रामनगर, नई दिल्ली में मुद्रित

अपनी-बात

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक अध्ययन'—शीर्षक गवेषणात्मक प्रबन्ध का प्रणयन करते समय मैंने यह अनुभव किया था कि शुक्लजी के सम्पूर्ण कृतित्व को साधारण जिज्ञासुओ और पाठकों के सम्मुख प्रत्यक्ष करने के लिये एक ऐसी पुस्तिका का होना आवश्यक है जिसमे शास्त्रीय ऊहापोह से बचते हुए भी प्रतिपाद्य विषय की बारीकी से छान-वीन की गई हो। कारण यह था कि प्रबन्ध की प्राविधिक जटिलताओं और मर्यादाओं के कारण यह कार्य उससे सिद्ध नही हो सकता था। लगभग सात वर्षों के व्यवधान के वाद इस पुस्तक द्वारा आज जव उस आवश्यकता की पूर्त्ति का अवसर हाथ लगा तो मुझे मानसिक संतोष प्राप्त हुआ। मैं उक्त उद्देश्य की पूर्ति मे कहाँ तक सफल हो सका हूँ। इस बात का निर्णय तो सहृदय पाठक ही कर सकते है।

पुस्तक पाँच अध्यायों मे विभक्त है। 'अवतरणिका' मे आचार्य शुक्ल की संक्षिप्त जीवनी के साथ रचनाओ का परिचय और उनके निर्माण की पार्श्वभूमि का सकेत दे दिया गया है। तदन्तर 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल', 'निवन्धकार शुक्ल', 'इतिहासकार शुक्ल' तथा ,कृतित्व की अन्य दिशाएँ'—शीर्षक अध्यायो के अन्तर्गत उनके साहित्य का सक्षिप्त किन्तु सर्वांगीण परिचय और विवेचन देने का प्रयास किया गया है। इस प्रसंग मे यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत पुस्तक में अपने गवेषणात्मक प्रबन्ध की मूल स्थापना को तो मैंने ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर ही लिया है कुछ अन्य उपयोगी विवरणो को भी, अनिवार्य जानकर, यथास्थान, संकलित कर दिया है।

उन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझना हूँ जिनके विचारों के माध्यम से आचार्य शुक्ल के गूढ़ मंतव्यों को हृदयंगम करने मे सहायता मिली है।

मुद्रण और प्रकाशन की दिशा मे पुस्तक के प्रकाशक महोदय ने यदि बार-बार मुझे प्रोत्साहित न किया होता तो शायद पुस्तक इतनी जल्दी प्रस्तुत न हो पाती।

त्रुटि-निर्देशो और सुझावों के लिये सदैव आभारी हूँगा।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय : : १

अवतरणिका

जीवन-रेखा—

वस्ती ज़िले के अगोना नामक गाँव में पंडित रामचन्द्र शुक्ल का जन्म विक्रम संवत् १९४१ मे आश्विन पूर्णिमा को हुआ था। शुक्ल-वंश की परम्परागत प्रतिष्ठा उस क्षेत्र में आज भी बनी हुई है। जनश्रुति है कि इस वंश के तेजस्वी पूर्वजों ने किसी अत्याचारी नवाब को पराजित करके ब्राह्मण कन्या का उद्धार किया और शस्त्रबल से मुसलमानी रियासत को अपने अधिकार में कर लिया था। आचार्य शुक्ल के पितामह का नाम पंडित शिवदत्त शुक्ल और पिता का पंडित चंद्रबली शुक्ल था। 'नगर' नामक रियासत की रानी साहिबा की उन दिनों इस शुक्ल परिवार पर विशेष कृपा रही। पंडित चंद्रबली शुक्ल की शिक्षा-दीक्षा का प्रायः सारा प्रबन्ध उन्ही की कृपा का फल था।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल का बचपन अगोना गाँव मे बीता। भाषा की दृष्टि से यह क्षेत्र पूर्वी अवधी और पश्चिमी भोजपुरी का संधिस्थल है। जिस भाषा के महार्घ ग्रन्थ-रत्नों का आचार्य शुक्ल ने आगे चलकर विश्लेषण किया उसके एक रूप का परिचय उन्हें, शैशवावस्था में, माता के दूध के साथ ही प्राप्त हो गया, यह एक विस्मयपूर्ण संयोग कहा जायेगा। इससे भी अधिक विचित्र संयोग की बात यह बताई जाती है कि इनकी माता गाना के उसी मिश्र वंश की कन्या थी जिसमे 'मानस' प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास जी लगभग ३०० वर्ष पूर्व उत्पन्न हो चुके थे। क्या इस रक्त सम्बन्ध ने आलोचक शुक्ल को गोस्वामी जी के पक्ष में द्रवित किया था? कौन कह सकता है?

शुक्लजी के पिता पंडित चंद्रबली शुक्ल ने क्वीस कॉलिजियेट स्कूल से एण्ट्रेस-परीक्षा पास की और सन् १८८८ ई० मे हमीरपुर ज़िले की राठ तहसील मे क़ानूनगो के पद पर नियुक्त हुए। अब उनका परिवार अगोना से राठ चला आया। बालक रामचन्द्र शुक्ल साढ़े-आठ वर्ष की आयु तक वही रहे। उनकी विधिवत् शिक्षा तत्कालीन प्रथा के अनुसार फारसी और उर्दू से प्रारम्भ हुई परन्तु लुक-छिप कर वे हिन्दी भाषा भी सीखने लगे। पिता की कठोर वर्जना के कारण हिन्दी सीखने की प्यास बढ़ती ही चली गई।

सन् १८९२ ई० में पंडित चद्रबली शुक्ल की नियुक्ति मिर्जापुर में सदर कानूनगो के पद पर हो गई। वे जल्दी मे, अपना परिवार राठ में ही छोड़कर, *मकान आदि की व्यवस्था करने के लिए मिर्ज़ापुर गये।* इसी बीच, पंडित रामचन्द्र शुक्ल की माता, अपने तीसरे पुत्र पंडित कृष्णचन्द्र शुक्ल को २० दिन की अल्पायु मे छोकडर, स्वर्ग सिधार गईं। माता की मृत्यु का सबसे कठोर आघात बालक रामचन्द्र शुक्ल को ही लगा क्योंकि आयु मे यही सबसे बड़े पुत्र थे और इस योग्य थे कि मृत्यु-जन्य दुःख का किसी सीमा तक अनुभव कर सके। पिता मिर्जापुर से लौटे और शव-दाह की व्यवस्था हुई। राठ के 'दीया' तालाब पर उनका शव भस्म किया गया। उस तालाब पर जलती हुई माता की चिता पंडित रामचन्द्र शुक्ल के चित्त मे चिरकाल तक प्रज्ज्वलित रही। कभी-कभी अपने बच्चों के समक्ष ये उसका ज़िक्र बाद तक, किया करते थे।

मिर्जापुर पहुँचने पर शुक्लजी की स्कूली शिक्षा विधिवत् चलने लगी। सन् १९०२ ई० मे इन्होने स्कूल लीविंग परीक्षा (मैट्रिकुलेशन) लन्दन मिशन स्कूल (आजकल बाबूराम जायसवाल इंटर कॉलेज) से पास की। इस बीच इनके परिवार मे कई ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने जीवन को सघर्षमय और कटु बना डाला। इनका विवाह १२ वर्ष की

अल्पायु मे ही हो गया। उससे लगभग दो वर्ष पूर्व पिताजी ने अपना दूसरा विवाह किया था। जब तक शुक्लजी की दादी जीवित थी तब तक तो कोई कठिनाई उपस्थित नही हुई किन्तु उनकी मृत्यु के उपरान्त विमाता का शासन ही प्रबल हो गया। पारिवारिक कलह-मंथन के फलस्वरूप पारस्परिक वैमनस्य का विष उत्पन्न होने लगा। पिता पत्नी के साथ एक पक्ष पर थे और पंडित रामचन्द्र शुक्ल अपने छोटे भाइयो के साथ दूसरे पर। विवाहित होने के कारण इनका उत्तरदायित्व बढ गया था इसीलिये अध्ययन-क्रम बनाये रखने के लिए संघर्ष का पथ पकड़ना पड़ा। विमाता के कोप के कारण घर से आर्थिक सहायता मिलनी कठिन हो गई। पिता-पुत्र का यह द्वन्द्व लगातार पांच-छः वर्षो तक चला था परन्तु पुत्र के साहस और अध्यवसाय से खिचकर और कुछ अपनी अन्तःप्रकृति के 'हिन्दी' और 'हिन्दूपन' की ओर झुक जाने के कारण पिता का प्रेम अपने होनहार पुत्र की ओर उमड़ चला। इस कलह के शान्त होने के उपरान्त शुक्लजी की विद्यालयीय शिक्षा तो आगे न चल सकी (क्योंकि तब तक प्लीडरशिप की परीक्षा मे असफल होकर पढ़ाई ही छोड़ बैठे थे) पर स्वाध्याय और लेखन-कार्य तीव्र गति से चल पड़ा।

मिर्जापुर में ही शुक्लजी के साहित्यिक जीवन का सूत्रपात हुआ। अतएव इस प्रसंग मे उस वातावरण का उल्लेख आवश्यक है जिसने इनके किशोर मन को एक विशेष सांचे मे ढाला। शहर के निकट विन्ध्याचल की रमणीय पर्वतस्थली है। पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद नाम के एक प्रकृति-प्रेमी सज्जन अपनी छात्र-मंडली को लेकर उसमें भ्रमण किया करते थे। संस्कृत-साहित्य मे वर्णित पर्वतीय दृश्यों का हवाला देकर वे पर्वत-छटा का विश्लेषण भी किया करते थे। संयोगवश शुक्लजी उनके संपर्क मे आये और इन्हे मिर्जापुर की पहाड़ियों मे भ्रमण करने का विचित्र चसका लग गया। प्रकृति-साहचर्य की सनातन वासना इनके हृदय में संस्कार बनकर व्याप्त हो गई। यही इनकी कविता और काव्यालोचना में आगे चलकर व्यवस्थित एवं पुष्ट सिद्धान्त के रूप में विकसित हुई।

मिर्ज़ापुर की पढ़ाई समाप्त करने के बाद एँफ० ए० की परीक्षा के लिए ये प्रयाग के 'कायस्थ पाठशाला' में प्रविष्ट हुए। पाठ्यक्रम के सभी विषयो मे इनकी अद्भुत गति थी लेकिन गणित से इन्हे अरुचि रही। उन दिनों एँफ० ए० की कक्षा मे भी यह विषय अनिवार्य था। परिश्रम करके भी ये इसमे सफल न हो सके। तदनंतर ये मिर्जापुर लौटे। मन में आशंका थी कि कदाचित् पिताजी (जिन्होने इनके आग्रह पर अनिच्छा-पूर्वक इन्हे प्रयाग पढ़ने के लिए भेजा था) इस बात पर क्रुद्ध हों। घर लौटकर देखा, आशंका निर्मूल थी। पिता की प्रकृति बदल चुकी थी। वे हिन्दी-भाषा और साहित्य की ओर श्रद्धापूर्वक झुक चले थे। 'रामचरित-मानस' से लेकर भारतेन्दु के नाटकों तक का पारायण और मनन करने लगे थे। वेश-भूषा में तदनुकूल रूपान्तर हो चुका था। पिताजी की इस परिवर्तित मनोवृत्ति से नई प्रेरणा और स्फूर्ति पाकर पंडित रामचन्द्र शुक्ल की दमित साहित्य-चेतना सहसा जग पड़ी। अब 'आनन्द- कादम्बिनी' और 'सरस्वती' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं मे इनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी।

लेकिन जीविका का साधन ढूँढ़ना भी इनके लिए आवश्यक था। पिता का आग्रह था कि कचहरी मे चलकर कार्य प्रारम्भ करे किन्तु ये प्लीडरशिप की परीक्षा पास करके प्रैक्टिस करना चाहते थे। निदान, फिर प्रयाग गये; किन्तु पाठ्यक्रम साहित्यिक रुचि के बिल्कुल विपरीत पड़ा। परीक्षा मे सफलता कैसे मिलती? वापस लौटने पर तत्कालीन जिलाधीश की कृपा से नौकरी प्राप्त हुई किन्तु ऐसा कहा जाता है कि क्रान्तिकारी लेख प्रकाशित करने के कारण नियुक्ति रद्द कर दी गई। तदनंतर स्थानीय लदन मिशन स्कूल मे ड्राइंग के अध्यापक बनकर कार्य करने लगे। लगभग ३ वर्ष बाद, 'हिन्दी-शब्द-सागर' के संपादन-विभाग मे कार्य करने के लिए काशी आये। शुक्लजी की गंभीर साहित्यिक कृतियों का निर्माण काशी की सुप्रसिद्ध विद्या-भूमि में ही हुआ।

'शब्दसागर' का निर्माण-कार्य लगभग बीस वर्षों तक चला और शुक्लजी का सम्बन्ध उससे सदैव बना रहा, किन्तु इस बीच उनकी साहित्य-साधना अन्य दिशाओं में भी चलती रही। उनके निबन्ध और समीक्षात्मक प्रबन्ध इसी काल में लिखे गये। कोश-कार्य समाप्त होने से पहले ही शुक्लजी की नियुक्ति काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय मे हो गई। वे एँफ० ए० और बी० ए० के छात्रो को हिन्दी-निबन्ध पढ़ाया करते थे। सन् १९२२ ई० के बाद विश्वविद्यालय मे स्वतंत्र हिन्दी-विभाग की स्थापना हो गई। बाबू श्यामसुन्दरदास उसके अध्यक्ष बनाये गये और ये उनके सहकारी के रूप में कार्य करने लगे। विश्वविद्यालय के अध्यापक का कार्य जितना उत्तरदायित्वपूर्ण था उतनी ही सजगता के साथ शुक्लजी ने आजीवन उसका निर्वाह किया। ऐसी महत्वपूर्ण शिक्षण-संस्था से संबद्ध हो जाने के कारण गंभीर साहित्य-निर्माण में इनकी विशेष प्रवृत्ति हो गई। कोश का कार्य अंतिम रूप से १९२९ ई० में सम्पन्न हुआ। उसमें शुक्ल जी का योगदान कितना महत्वपूर्ण था इसका अनुमान कोश के प्रधान संपादक बाबू श्यामसुन्दरदास के निम्नांकित वक्तव्य से किया जा सकता है—

"यदि यह कहा जाये कि शब्द-सागर की उपयोगिता और सर्वांग-पूर्णता का अधिकांश श्रेय पंडित रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचारशीलता का फल है। इतिहास, दर्शन, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, साहित्य आदि के सभी विषयों का समीचीन विवेचन प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। यदि शुक्ल जी सरीखे विद्वान् की सहायता न प्राप्त होती तो केवल एक या दो सहायक संपादकों की सहायता से यह कोश प्रस्तुत करना असंभव ही होता।"

कोक्ष विभाग में कार्य करते समय शुक्लजी को अपने अध्ययन को व्यापक बनाने का पूरा अवसर प्राप्त हुआ इसलिए बाबू श्यामसुन्दर दास

का यह कथन सर्वथा उचित था कि "कोश ने शुक्लजी को बनाया और कोश को शुक्लजी ने।"

सन् १९३७ ई० में, जब बाबू श्यामसुन्दर दास विश्वविद्यालय में कृतकार्य हुए तब शुक्लजी विभाग के अध्यक्ष बने। उसी पद पर कार्य करते हुए २ फरवरी सन् १९४१ ई० को दमे के आक्रमण से ये परलोकवासी हुए। मृत्यु के समय इनकी आयु ५७ वर्ष की थी।

संस्मरणात्मक-टिप्पणियाँ—

शुक्लजी के देहावसान पर हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके जीवन के संस्मरण प्रकाशित हुए और अनेक विद्वानों ने उनकी मृत्यु को हिन्दी-साहित्य की अपूरणीय क्षति के रूप में आँका। यहाँ कुछ प्रतिनिधि सम्मतियों को संकलित किया गया है—

श्री दीनानाथ व्यास ने अपने संस्मरणात्मक लेख के प्रारंभ में जो शेर उद्धृत किया है, वह उनके मंतव्य को स्पष्ट कर देता है—

"बड़े गौर से सुन रहा था जमाना।
तुम्हीं सो गए दास्ताँ कहते कहते॥

'माधुरी' के संपादक ने लिखा—

"हिन्दी के प्रधान अंतरंग (समीक्षा तथा मौलिक निबंध) की परि-पुष्टि तो शुक्लजी के हाथों से हुई, यह मानना पड़ेगा।......शुक्लजी उन दृढ़ अध्यवसायी व्यक्तियों में से थे जो स्वावलंबन ही से अपने उद्देश्य-पथ के प्रत्यूहों पर विजय प्राप्त करते हुए महान् हो जाते हैं। सोचने की बात है, कहाँ मिर्जापुर के हाईस्कूल की ड्राइंग मास्टरी और कहाँ हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की अध्यक्षता। निस्संदेह ये महान् पुरुषार्थी थे।......हमें यह लिखते हुए हर्ष होता है कि शुक्लजी साहित्य-साधना में एक सन्निष्ठ, कर्मठ एवं मान-सम्मान की लालसा से ऊपर उठे हुए श्रद्धेय साधक थे।"

'सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणी में कहा गया—

"शुक्लजी हिन्दी के उन कर्मठ विद्वानों में से हैं जो हिन्दी के ही होकर रहे। उनके सौभाग्य से उन्हें हिन्दी के महारथी बाबू श्याम-सुन्दर दास का सहयोग प्राप्त हो गया था और क्या नागरी-प्रचारिणी सभा, क्या हिन्दू-विश्वविद्यालय दोनों स्थानों में वे बाबू साहब के दाहिने हाथ बने रहे।......इसमें सन्देह नहीं कि उनकी मृत्यु से हिन्दी के क्षेत्र से एक अनुभवी प्रामाणिक विद्वान् का अभाव हो गया है और उसकी ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति जल्दी नहीं हो सकेगी।"

'हंस' की संपादकीय टिप्पणी इस प्रकार थी—

"रात्रि के घने अंधकार में अनेक टिमटिमाते दीपकों के बीच प्रखर ज्योति से जलते हुए एक विद्युत् गैस की चमकती रोशनी में बैठकर हम निविड़ अंधकार के घनत्व को भूल-सा जाते हैं। किन्तु जब वह गैस अचानक बुझ जाता है तो सहसा हमारी आँखों तले चारों ओर से घेर कर आत्मा को आच्छादित कर लेने वाला अंधेरा छा जाता है, यद्यपि अनेक दीपक अपनी लौ हिला-हिला कर अंधकार की धारा को चीरते क्षीण प्रकाश की रश्मियाँ वातावरण में फैलाते रहते हैं और जैसा कुछ तैसा प्रकाश बनाए भी रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हठात् देहावसान से हिन्दी-कवियों के नेत्रों के आगे ऐसा ही अंधकार छा गया है।"

'हंस' संपादक ने जब हिन्दी साहित्य की तत्कालीन परिस्थितियों के बीच शुक्लजी के निधन को देखा तो उनमे निम्नांकित प्रतिक्रिया हुई—

"आजकल हिन्दी संक्रान्तिकाल से गुज़र रही है। ज़माना नाज़ुक है। अनेक बाधाएँ सामने हैं। उन संकटों से बचने के लिए हम अपने अनुभव ज्ञान-वृद्ध विद्वानों से बहुत कुछ सहायता पा सकते है, ऐसे समय उनकी परम आवश्यकता होती है। और नही तो उनके होने से एक प्रकार का मानसिक धीरज रहता है। आचार्य शुक्ल तो अपने जीवन के अधिकांश वर्षों में साहित्य-चिंता में ही साँस लेते रहे। वे उसकी गतिविधि एवं

त्रुटियां और आवश्यकताओं से भली-भांति परिचित थे, इस गाढ़े समय में वे हमारे बड़े काम के व्यक्ति थे। उनके देहावसान से हिन्दी ने जो अपना खो दिया है उस स्थान की पूर्ति की आशा निकट भविष्य में नहीं है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के साहित्याकाश मे अपनी ओजस्विनी प्रतिभा से सूर्य के समान प्रकाशपूर्ण है जिनकी अपेक्षा में हिन्दी-साहित्य अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा है।"

व्यक्तित्व—

शुक्लजी के साहित्य में अगाध पांडित्य और गांभीर्य है, इसीलिये अधिकांश पाठकों को यह प्रतीत होता है कि इनका स्वभाव गंभीर और प्रकृति शुष्क रही होगी। किन्तु वस्तु-स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत थी। वे रस-हीन पांडित्य से कोसों दूर थे। डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि उनके ग्रन्थो को देखने से "पुस्तक-सेवी विद्वान् के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तस्वीर बनती है।" उनके व्यक्तित्व का यह पहलू गंभीर निबन्धों और आलोचनाओं तक में पूर्ण प्रत्यक्ष है। व्यक्तिगत जीवन मे इसका परिचय तो प्रायः सभी अंतरंग मित्रो को मिलता रहता था। उनके अनन्य सहयोगी आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने उनकी गंभीर विनोद-प्रियता का उल्लेख करते हुए कहा है—

"गोष्ठी में भी जब वे इस सम्मोहनास्त्र का प्रयोग करते तो चाँदी उनकी होती और लक्ष्य आहत होकर भी आहें न भरता। कहते हैं वे हँसते नहीं थे हँसाते थे अर्थात सरल काम छोड़कर कठिन काम करते थे, पर उनके स्मित और विहसित आनन की असली थाह किसी अंतरग को ही मिल सकती थी।"

शुक्लजी स्वाभिमानी पुरुष थे। प्रारंभ मे इसी स्वाभिमान की भावना से उन्होने क्रान्तिकारी लेख लिखा था जिसके फलस्वरूप सरकारी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। हिन्दू-विश्वविद्यालय से कुछ दिनों की छुट्टी लेकर वे अलवर नरेश के यहाँ रह रहे थे। महाराज बडे विद्या-व्यसनी थे। रात-रात भर जगकर वे साहित्य और दर्शन का अध्ययन-मनन किया करते थे। शुक्लजी उनकी साहित्यिक एवं दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिये नियुक्त थे। इसके लिए उन्हें राज्य-कोष

से मासिक वृत्ति मिलती थी। एक रात लगभग दो बजे, शंका-समाधान के लिये राजा का बुलावा आया। निद्रा-भंग का कष्ट झेलकर भी शुक्लजी को आदेश-पालन करना पड़ा। दूसरे ही दिन वे अलवर छोड़कर काशी चले आये। स्वाभिमान-रक्षा का और कोई उपाय ही नहीं था। तभी से कवित्त का निम्नांकित टुकड़ा, हास-परिहास के बीच, स्वजनों को बहुधा सुनाया करते थे—

"चीथड़े लपेटे चना चाबेंगे चौखट पै
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।"

उनका आचरण स्वच्छ और निष्कलुष था, किन्तु स्वभाव के बड़े संकोची थे। संसार के चतुर कहे जाने वाले लोग उनकी इस दुर्बलता से खूब परिचित थे। इसलिए अपना काम निकाल लेने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने उनके संकोची स्वभाव का ज़िक्र करते हुए लिखा है—

"वे शील और सौम्यता की मूर्ति थे। माधुर्य और विश्रम्भ की सूचना देने वाले उनकी आँखों के लाल डोरे इसकी साख भरते थे। उनकी अत्यधिक शालीनता, कभी-कभी अनेक कष्ट और अनुताप का कारण होती और आगे के लिए सचेत होने की प्रतिज्ञा भी करते पर उनका यह संकोच अंत तक न गया।"

शुक्लजी सम्मान-लोलुप नहीं थे, पद-लोलुप तो और भी नहीं। प्रयाग के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार करने में वे इसीलिये अन्त तक आना-कानी करते चले गये। उत्सवों, समारोहों और सभा मंचों से वे सदैव दूर रहना ही पसन्द करते थे। जब किसी संकोच वश टाल नहीं पाते थे तभी ऐसे झमेले में उलझते थे। उनकी इस अंतर्मुखी प्रवृत्ति को लक्ष्य कर श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ ने लीडर अखबार में लिखा था :—He was a great man never conscious of his greatness अर्थात् वे महान मानव थे और

अपनी महत्ता से स्वयं ही अपरिचित। वे सम्मान लेने के बजाय देना जानते थे।

शुक्लजी हिन्दी-भाषा और साहित्य के सम्मान-रक्षक थे। अपनी साहित्य-मीमांसा मे वे राष्ट्रीय और मानवीय मूल्यों का ध्यान रखते हुए भी निगूढ़तम काव्य-सौंदर्य का उद्घाटन कर सकते थे। उनके प्रयास से हमें केवल इस तथ्य का ही ज्ञान नही हुआ कि हिन्दी-भाषा और साहित्य मे अद्भुत प्राणवत्ता है और उसके भावी विकास मे मानव-कल्याण की कल्पनातीत संभावनायें है बल्कि यह भी उद्घाटित हुआ कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में भी हिन्दी-साहित्य का विशिष्ट स्थान है। उन्होने ही यह प्रमाणित किया कि संस्कृत और अंग्रेजी से अलग हिन्दी भाषा का अपना स्वतंत्र स्वरूप और निजी अस्तित्व है। अपने स्वाभिमान और आत्म-विश्वास को साहित्य का स्वाभिमान और विश्वास बना कर ही वे अपने इस उद्योग मे सफल हो सके। वाग्युद्ध और तर्कों-वितर्कों तथा कुतर्कों के हाहारव के बीच एकांत साहित्य साधना एवं तपोनिष्ठता द्वारा उन्होंने उक्त सत्य का साक्षात्कार कराया। वास्तव मे वे हिन्दी-भाषा और साहित्य के सजग प्रहरी थे। विघटनकारी तत्वों को साहित्य की सीमा से दूर रखने और विजातीय तत्वों के नाशकारी प्रभाव से उसे बचाये रखने को वे अपने जीवन का चरम आदर्श मानते थे। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, से प्रकाशित होने वाली 'हिन्दी' नाम्नी पत्रिका के प्रकाशन अवसर पर जो पत्र उन्होने लिखा था वह उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का सच्चा परिचायक है। पत्र यों है—

"हमारी परम्परागत भाषा को हमारे व्यवहारों से अलग करने का प्रयत्न बहुत दिनों से चल रहा है पर अपनी स्वाभाविक शक्ति से यह अपना स्थान प्राप्त करती चली आ रही है। इधर जब से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने की चर्चा छिड़ी है तब से इसके विरोधी बड़े प्रचंड वेग से इसकी गति रोकने के अनेक उपाय रचने में लग गए हैं। इस अवसर पर अपनी भाषा की रक्षा का भरपूर उद्योग हमने न किया तो सब

दिन के लिए पछताना पड़ेगा। पर हम में से अधिकतर लोगों को यह भी पता नही है कि हिन्दी को उखाड़ फेंकने के लिए कितने चक्र किन-किन रूपो में कहां-कहां चल रहे हं। यही देखकर यह 'हिन्दी' पत्रिका निकाला गई है। यह इस बात पर बराबर दृष्टि रखेगी कि अनिष्ट की आशंका कहाँ-कहाँ से है और समय-समय पर अपनी सूचनाओं द्वारा हिन्दी प्रेमियों से स्थिति पर विचार करने और आवश्यक उद्योग करने की प्रेरणा करती रहेगी।

हमें पूरा विश्वास है कि समस्त देशभक्त और मातृभाषा प्रेमी सज्जन इस पत्रिका की सहायता हर प्रकार से—धन से, लेख से, आवश्यक बातों की सूचना से, अवसर के अनुकूल परामर्श से—करेंगे और यह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगी।

———

साहित्यिक पार्श्वभूमि—

बीसवीं शताब्दी के शुरू में ही आचार्य शुक्ल की प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। अतः द्विवेदी-युगीन प्रवृत्तियों के समानान्तर रखकर ही उनके साहित्य का अध्ययन करना समुचित है। उस युग की धारा मे प्रवाहित अनेक लेखकों की भाँति वे भी एक लेखक हैं और इस प्रकार भारतेन्दु-युग ही उनके साहित्य की वास्तविक पृष्ठभूमि है। द्विवेदी-युग की कुछ प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और उन्हें प्रेरणा देने वाली सामान्य शक्तियाँ इस प्रकरण मे विचारणीय हैं—शुक्लजी के निवन्ध, काव्य, आलोचना, कहानी आदि पर विचार करते हुए हम कुछ अलग से सोचने का अवसर पायेंगे।

द्विवेदी-युग कठोर नीतिमत्ता और आदर्शवादिता का युग माना जाता है। समाज के अन्य क्षेत्रों में नैतिक उन्नयन का जो स्वर उठाया गया था, साहित्य के भीतर भी उसे बाँधने का प्रयास किया गया। हम जानते हैं कि यह प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग मे ही दिखाई पड़ी थी किन्तु इसका साहित्यिक संस्कार उस समय सम्भव नही हुआ। उस समय, विचारों को केवल तर्क और बौद्धिकता से ग्रहण करने का प्रयास किया गया था, जीवन में उनके रागात्मक सामंजस्य की परिकल्पना नही की गई थी। किन्तु द्विवेदी-युग में, जब अधिकांश प्राचीन संस्कार लुप्त हो चुके थे, उन्ही विचारों का मन के साथ सास्कृतिक परिपाक धीरे-धीरे होने लगा। रागात्मक सामंजस्य के अभाव में जीवन और समाज-सम्बन्धी कविताओं मे सर्वत्र नीरसता का साम्राज्य हो गया था। ऐसा लगता है जैसे पूरा साहित्य ही प्रचारात्मक हो। पुरानी कविता के स्थान पर जो नई छायावादी कविता द्विवेदी युग मे ही प्रादुर्भूत हुई वह कवियों के अन्तर्मन और जगत् के रागात्मक सामंजस्य से अनुप्राणित थी।

साहित्यिक पार्श्वभूमि—

बीसवी शताब्दी के शुरू में ही आचार्य शुक्ल की प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। अतः द्विवेदी-युगीन प्रवृत्तियों के समानान्तर रखकर ही उनके साहित्य का अध्ययन करना समुचित है। उस युग की धारा में प्रवाहित अनेक लेखकों की भाँति वे भी एक लेखक हैं और इस प्रकार भारतेन्दु-युग ही उनके साहित्य की वास्तविक पृष्ठभूमि है। द्विवेदी-युग की कुछ प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और उन्हें प्रेरणा देने वाली सामान्य शक्तियाँ इस प्रकरण में विचारणीय है—शुक्लजी के निबन्ध, काव्य, आलोचना, कहानी आदि पर विचार करते हुए हम कुछ अलग से सोचने का अवसर पायेंगे।

द्विवेदी-युग कठोर नीतिमत्ता और आदर्शवादिता का युग माना जाता है। समाज के अन्य क्षेत्रों में नैतिक उन्नयन का जो स्वर उठाया गया था, साहित्य के भीतर भी उसे बाँधने का प्रयास किया गया। हम जानते हैं कि यह प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग मे ही दिखाई पड़ी थी किन्तु इसका साहित्यिक संस्कार उस समय सम्भव नही हुआ। उस समय, विचारों को केवल तर्क और बौद्धिकता से ग्रहण करने का प्रयास किया गया था; जीवन में उनके रागात्मक सामजस्य की परिकल्पना नही की गई थी। किन्तु द्विवेदी-युग मे, जब अधिकांश प्राचीन संस्कार लुप्त हो चुके थे, उन्ही विचारों का मन के साथ सांस्कृतिक परिपाक धीरे-धीरे होने लगा। रागात्मक सामंजस्य के अभाव में जीवन और समाज-सम्बन्धी कविताओ मे सर्वत्र नीरसता का साम्राज्य हो गया था। ऐसा लगता है जैसे पूरा साहित्य ही प्रचारात्मक हो। पुरानी कविता के स्थान पर जो नई छायावादी कविता द्विवेदी युग में ही प्रादुर्भूत हुई वह कवियों के अन्तर्मन और जगत् के रागात्मक सामंजस्य से अनुप्राणित थी।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह प्रतिपादित किया है कि, "जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी-युग प्रतीक है उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा देने का श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है।"

आगे शुक्लजी की साहित्यिक मान्यताओ को स्पष्ट करते हुए हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि उन्होने मनोविज्ञान-समर्थित नीतिवादिता का आश्रय लिया। वे भाव की 'स्थायी दशा' को ही तत्कालीन मनोवैज्ञानिको की भाँति आचरण का प्रतिरूप मानते रहे। नैतिकता और मनोवेगों का उन्होंने इतना गहरा और अटूट सम्बन्ध जोड़ा कि यह समझना कठिन है कि वे नैतिकता का आधार ढूँढने के लिए मनोविज्ञान के पास पहुँचे अथवा मनोविज्ञान की ओर से चलते-चलते नैतिकता की प्रतिष्ठा कर सके।

द्विवेदी-युग हमारे राष्ट्रीय उन्मेष का दूसरा चरण है। स्वतन्त्रता-आन्दोलन इस युग में अधिक उग्र और परिस्फुट हो गया। यद्यपि उसमे प्रधानता मध्यवर्गीय समाज की ही रही तथापि आम जनता में भी राष्ट्रीयता की सामूहिक चेतना जग पड़ी। इसलिए केवल राजनीति मे ही नही, साहित्य मे भी किसान-जागरण और सगठन की चर्चा होने लगी। लेकिन यह चर्चा अधिकांश मध्यवर्गीय जागृति की सूचना देती है। इसका मुख्य लक्ष्य, अपनी प्राचीन सास्कृतिक सम्पदा का, नये जीवन-मूल्यों के आलोक मे, पुन. परीक्षण करना था। वास्तव में, भारतेन्दु-कालीन पुनर्जागरण के नये विचार जो व्याख्यानो और धार्मिक प्रवचनों में प्रकट हुआ करते थे, इस समय साहित्य के कलात्मक आवरण में परिस्फुट होने लगे। प्राचीन पौराणिक कथा-प्रसंगो मे निहित सत्य का उद्घाटन जैसे पहले प्रचारक और समाज-सुधारक किया करते थे उसी प्रकार कवि और साहित्यकार कल्पना का प्रयोग करके पुरातन कथानकों मे नया अर्थ-गौरव उत्पन्न करने लगे। विजेता जाति की सस्कृति के समकक्ष अपनी सांस्कृतिक परम्परा को रखने की जो प्रक्रिया

भारतेन्दु-काल मे शुरू हुई थी वह इस युग में भी पूर्ण वेग के साथ चल रही थी।

साहित्य के क्षेत्र में एक बड़ी भारी विशेषता यह दिखाई पड़ी कि इस युग मे पाश्चात्य साहित्य की मूल्यवान सम्पत्ति को हिन्दी में अवतरित करने का व्यापक और संगठित उद्योग हुआ। हिन्दी-भाषा के भाण्डार को भरने के लिये सबसे सुगम तात्कालिक साधन यही था। पाश्चात्य ग्रन्थों के आधार पर सैकड़ों ग्रन्थ, निबन्ध और काव्य भी इसी युग मे लिखे गए। 'मनोरंजन पुस्तक माला' में प्रकाशित अधिकांश ग्रन्थ इसी कोटि के थे और 'सरस्वती' के प्रायः प्रत्येक अंक में एकाध लेख ऐसा अवश्य हुआ करता था, जिसमे किसी विदेशी लेखक के विचारों का संकलन किया गया हो। अन्य पत्रिकाओं में भी ऐसे लेखो की भरभार रहती थी जो किसी अन्य देशी अथवा विदेशी भाषा के निबन्धों के आधार पर लिखे गए थे। नीचे लिखे लेख ऐसे ही हैं—

'समालोचना', 'काला-पहाड़', 'शिक्षा-संस्कार', 'उत्तर प्रदेश के प्राचीन ऐतिहासिक स्थान', 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति' आदि।

शुक्लजी के अधिकांश अनूदित ग्रन्थ और लेख इसी श्रेणी के हैं। मूल का अक्षरशः अनुवाद करना उनका लक्ष्य नही था। 'द्विवेदी-युग' के इस प्रयास के कारण एक ओर तो हिन्दी-भाषी समुदाय के लिए उच्चकोटि का मानसिक खाद्य मिला और दूसरी ओर भाषा की व्यंजनाशक्ति भी बढ़ गई। नये शब्द-समूह के संयोग से उसमें पर्याप्त समृद्धि आ गई।

द्विवेदी-युग हिन्दी-भाषा और विशेषकर हिन्दी-गद्य के परिष्कार और संस्कार का युग भी था। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप मे द्विवेदीजी ने व्याकरण-रूपों के स्थिरीकरण का जो स्तुत्य प्रयास किया, वह साहित्य के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। भाषा का स्वरूप व्यवस्थित होने और उसकी व्यंजना-शक्ति के समृद्ध हो जाने के कारण मौलिक निबन्धो और आलोचनाओं के लिए भी पूरा अवकाश निकल आया।

साहित्य-समालोचना का बहुत परिष्कृत रूप उस समय नही मिलता। यद्यपि पत्र-पत्रिकाओ के निबन्धो और स्वतन्त्र पुस्तको के रूप में पर्याप्त आलोचना-साहित्य प्रकाश मे आ गया था तथापि रचयिताओं की आन्तरिक वृत्तियों का परीक्षण और उनकी कृतियों का निष्पक्ष विवेचन उस समय न हो सका। आलोचना-सम्बन्धी अधिकांश प्रयास ऐसे थे जिनमें या तो कृति अथवा कृतिकार की कुछ त्रुटियों को लक्ष्य करते-करते उसका अवमूल्यन कर दिया जाता था या उसके कुछ गुणों का उद्घाटन करते-करते लच्छेदार शब्दो मे स्तवन कर दिया जाता था। लेखकों के व्यक्तिगत राग-द्वेष और आक्रोश आदि की व्यंजना भी इन लेखों में बहुत हुआ करती थी। इसलिए प्रथम कोटि की व्यावहारिक आलोचना द्विवेदी-काल में नही मिलती और सैद्धान्तिक आलोचना तो अधिकतर प्राच्य अथवा पाश्चात्य मतभेदों की उद्धरणी करने मे लगी रही।

ऐसे साहित्यिक प्रवाह के बीच आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव हुआ। आधुनिक साहित्य के लगभग सभी काल उन्होंने अपनी आँखो से देखे। भारतेन्दु-युग शिशुता में चला गया किन्तु द्विवेदी-युग में उन्होने अपनी रचनाओं से पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली। लेकिन यह युग उनकी साधना और तैयारियों का युग था। उनका सहज अन्वेषी मन अपने लिए कोई निश्चित आधार ढूँढ़ रहा था। आधार मिलने पर ही वे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र मे उतरे।

उनके संस्कार भारतीय थे, किन्तु भारतेन्दु-कालीन नव-जागरण की छाप उन पर पूरी-पूरी दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के अनुशीलन से उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया है उसे अपने संस्कारगत आदर्शों के साथ मिलाकर देखने का प्रयास वे सदैव करते रहे। बुद्धि की तुला पर जो-कुछ ठीक उतरा, वह, चाहे भारतीय हो चाहे पाश्चात्य उनके द्वारा अंगीकार किया गया। लेकिन वे केवल अंगीकार करने वाले नही थे, सच्चे अर्थों में मौलिक निर्माता भी थे। भारतीय संस्कार

के साथ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का सुन्दर सामंजस्य करके उन्होंने हिन्दी के अपने साहित्य-शास्त्र का निर्माण किया।

आलोचना के क्षेत्र में उनकी देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनके सम्पूर्ण साहित्यिक प्रयासों में विचारणा का मूल सूत्र एक ही है, तथापि आलोचना के क्षेत्र में ही वह अधिक परिस्फुट हो सका। उनकी आलोचना द्विवेदी-युग के उदर से उत्पन्न हुई अवश्य, किन्तु किसी भी तत्कालीन आलोचक के साहित्य से उसे समीकृत नहीं किया जा सकता। वह तत्कालीन आलोचना से गुणात्मक रूप से भिन्न है। लेकिन उसके भीतर भारतेन्दु और द्विवेदी-कालीन नव-जागरण से प्रतिफलित होने वाला राष्ट्र-प्रेम सर्वत्र है। हम इस बात को भुलाकर उनके आलोचना साहित्य का ठीक-ठीक मूल्य नहीं आँक सकते—पाश्चात्य सिद्धान्तों और मतवादों पर विचार करते हुए, उनकी अपनी मान्यताएँ ही नहीं प्रकट होतीं, अपितु नवजागरण-कालीन आत्म-गौरव की भावना भी दिखाई पड़ती है।

भारतीय नव-जागरण के धार्मिक-सांस्कृतिक उत्थान को जीवन की समग्रता के साथ मिला कर देखने से सिद्ध हो जायेगा कि आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों की क्रान्ति से कहीं अधिक पुष्ट और दृढ़ यह सांस्कृतिक पुनर्जागरण ही था। यूरोपीय पुनर्जागरण के साथ इसका साम्य बहुत थोड़ी दूर तक ही है—उसकी सभी स्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ यहाँ दिखाई नहीं पड़ती। धर्म और संस्कृति के स्वर का प्राधान्य भी इसकी अपनी विशेषता है। पराधीनता के कारण आत्म-गौरव के उन्मेष का तीव्र आलोक भी इसमें विद्यमान है। आत्मगौरव की यह भावना हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सांस्कृतिक चरण सम्पन्न करती है। प्रौढ़ और परिपक्व मस्तिष्क वालों के ऊपर इस जागरण का जो भी प्रभाव पड़ा हो, किन्तु किशोरों और तरुणों के मन में अपने धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार आदि के प्रति प्रेम, आदर और श्रद्धा का भाव उसी से उत्पन्न हुआ। शिकागो सम्मेलन को ही लिया जाय, तो उस समय स्वामी विवेकानन्द की सफलता से

भारत की समूची जनता—विशेपकर तरुणों और किशोरों—को जिस उल्लास और उत्साह का अनुभव हुआ होगा, उसका अनुमान लगाना कठिन नही। शुक्लजी की आयु उस समय लगभग १० वर्ष की थी। ठीक ज्ञात नही कि उस अल्प आयु मे उनके ऊपर इस घटना का क्या प्रभाव पडा किन्तु इतना प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है कि उनके साहित्य में प्रारम्भ से ही भारत की सांस्कृतिक सपदा के प्रति आदर और श्रद्धा की भावना रही है। अपनी आलोचना में भी जहाँ वे एक ओर अत्यन्त गंभीर प्रश्नो से उलझते-सुलझते जटिल गुत्थियों को सुलझाते चले जाते है वहाँ दूसरी ओर भारत के गौरव का प्रत्यक्ष या परोक्ष चिन्तन भी अवश्य करते चले जाते है। उनका संपूर्ण समीक्षा-साहित्य राष्ट्रीय भावनाओं से भरपूर है।

शुक्लजी की साहित्यिक मान्यतायें द्विवेदी-युग में ही निर्मित हुईं। उनके निर्माण में जो कुछ पाश्चात्य सहयोग काम कर रहा था उसका अधिक संवन्ध मनोविज्ञान से था। साहित्य-शास्त्र के पके-पकाये सिद्धान्त उन्होने पश्चिम से नही लिए। प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों को भी ज्यों-का-त्यों स्वीकार न कर सके—उसमें जो कुछ बुद्धि-ग्राह्य नही था उसे अत्यन्त विनम्र भाव से अस्वीकृत करते अथवा रूपांतरित करते चले जाना उनका लक्ष्य था। पाश्चात्य मनोविज्ञान उनके आलोचनागत मान-दण्डों मे कितनी गहराई तक प्रविष्ट हो सका है, इसकी विवेचना अभी नही के वरावर हुई है, यद्यपि आलोचक रूप में शुक्लजी को जो इतनी अधिक सफलता मिली उसका वहुत कुछ कारण यह मनोविज्ञान ही है। यह कौन नही जानता कि उनको व्यावहारिक आलोचनाओं के सब से मूल्यवान अंश वे ही हैं जहाँ वे भावों का परीक्षण करते या उनकी स्थायी दशा की ओर संकेत करते हुए चरित्रों का विकास दिखाते है। इस क्षेत्र में उनके साथ टक्कर लेने वाले आलोचक कम ही मिलेंगे। उन्होंने भाव-विवेचन स्वतंत्र रूप से भी किया है। दोनों को

साथ-साथ देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वतंत्र रूप से किया गया भाव-विवेचन केवल उनकी व्यावहारिक आलोचना की ही नही अपितु सैद्धान्तिक आलोचना की भी भूमिका स्पष्ट करता है। साहित्येतर मान्यताओ और विश्वासों तक मे भी उसके चिह्न पाये जा सकते है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हम उनकी साहित्यिक मान्यताओं को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

रचनाएँ—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य-साधना बीसवी शताब्दी के पहले चार दशको अर्थात् ४० वर्षो तक चलती रही। खड़ी-बोली हिन्दी-साहित्य के विकास में इन चार दशकों का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है इसका अनुमान केवल इतने से लग सकता है कि भक्ति-युग के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के किसी अन्य युग मे इतने महिमाशाली साहित्यकार एक साथ नही उत्पन्न हुए थे जितने इन ४० वर्षो मे हो गये। साहित्य के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से तो ये दशक सर्वोपरि माने जायेगे। लेकिन इसके साथ ही यह भी सत्य है कि भाषा की सामान्य व्याकरण-व्यवस्था से लेकर साहित्य की सुकुमार अभिव्यंजनाओं तक और स्थूल कथावृत्तों से लेकर सूक्ष्म भाव-भंगिमाओं तक जितना विस्तीर्ण पथ इस युग की भाषा और साहित्य को पार करना पड़ा उतना पिछले युगो की भाषा और साहित्य को नही। इस लम्बी यात्रा पर पड़ने वाले मूर्धन्य साहित्यकारों के पद-चिह्न आज स्पष्टतर हो गये है। आचार्य शुक्ल इन साहित्यकारो मे से एक थे। इसलिये उनकी रचनाओं का ठीक-ठीक परिचय उक्त पद-चिह्नो के संदर्भ में ही पाया जा सकता है।

उन्होंने भारतेन्दु-युग के उत्तरांश को अपने बाल-नेत्रो से देखा था, द्विवेदी-युग मे उनकी किशोरावस्था और तरुणाई व्यतीत हुई और अंत के बीस वर्ष प्रौढ़-चिन्तन एवं विवेचन के परिचायक है। युग और परिस्थिति के अनुसार उन्होंने मौलिक साहित्य-निर्माण के साथ अनुवाद-कार्य भी किया—कभी अंग्रेजी से कभी बँगला से। किसी अन्य भाषा के निबन्ध अथवा पुस्तक 'के आधार' पर निबन्ध अथवा पुस्तक लिखना द्विवेदी-युग मे एक सामान्य बात थी। शुक्लजी ने भी यह कार्य किया। मौलिक साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे वे कहानी और कविता लेकर उतरे थे किन्तु अपनी प्रतिभा का सही परिचय निबन्ध और

आलोचना मे ही दे सके। आगे उनकी सभी रचनाओं का क्रमबद्ध परिचय उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

आलोचना :

(१) 'गोस्वामी तुलसीदास'—शुक्लजी की प्रथम प्रौढ़ आलोचनात्मक कृति 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम्नी लघु पुस्तिका है जो पहले 'तुलसीग्रन्थावली' के भूमिका-खण्ड में संकलित हुई थी। इसका प्रकाशन-काल सन् १९२३ ई० है। अपने वर्तमान आलोचनात्मक रूप में यह बाद में आई। तब जीवनी भाग निकाल दिया गया और कुछ नये निबन्ध जोड़ दिये गए। शुक्लजी के पांडित्य और उनकी विश्लेषणात्मक मेधा का प्रथम परिचय हिन्दी-जगत को इसी पुस्तक द्वारा मिला।

(२) सूरदास—यह उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक रचना है जो अपने वर्तमान रूप में वस्तुतः सूरदास-विषयक चार छोटे-बड़े निबन्धों का संकलन है। काव्य-विवेचना से सम्बन्ध रखने वाला मुख्य अंश 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका के रूप में सन् १९२३ में ही प्रस्तुत किया गया था। शेष निबन्ध भी उसी काल के आस-पास लिखे गये थे। सूरदास की भाव-भूमि का प्रथम साक्षात्कार लोगों को, इसी पुस्तक द्वारा हुआ। इसका भक्ति-सम्बन्धी विवेचन भी पूर्णतः मौलिक एव स्तुत्य है।

(३) जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका—१९२४ ई० मे आचार्य शुक्ल ने महाकवि जायसी की सांगोपांग साहित्य-समीक्षा 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका के रूप में प्रकाशित की। किसी प्रबन्धात्मक रचना का ऐसा सर्वांगपूर्ण विवेचन हिन्दी में दूसरा नही है। वास्तव में हिन्दी आलोचना की सर्वोत्तम उपलब्धि यह भूमिका ही मानी जा सकती है। 'तुलसी' और 'सूर' पर विचार करते समय आलोचक के समक्ष संकलन-सम्बन्धी कुछ सीमायें और मर्यादायें थीं किन्तु जायसी ग्रन्थावली का सम्पादन और उनके सभी काव्य-गुणो का अपेक्षित विवेचन करने के

लिए वे स्वतन्त्र थे। अतः काव्य के सभी पक्षों का सम्यक् निरूपण करने का उन्हे अवसर मिला। इस आलोचना की महत्ता का सबसे जबर्दस्त प्रमाण यह है कि 'सूर' और 'तुलसी' सम्बन्धी काव्य-विवेचन तो अनेक दिशाओं मे शुक्ल-युग की सीमा से आगे बढा है किन्तु जायसी की काव्य-मीमांसा में, अधिकांश, आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं का ही उपबृंहण परिलक्षित होता है। यह हमारी आलोचना के विकास के लिए शुभ लक्षण भले ही न हो किन्तु एक ऐसी सचाई है जिससे इन्कार नही किया जा सकता।

(४) काव्य में रहस्यवाद—सन् १९२९ ई० में शुक्लजी ने 'रहस्यवाद' का विश्लेषण एक लम्बे निबन्ध के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित किया। इस निबन्ध मे खंडन-मंडन और गम्भीर विवेचन का मनोरंजक सामंजस्य है। शुक्लजी के मत से असहमत रहने वाले कवियो लेखकों और पाठकों को उस युग में इस पुस्तक ने भले ही विक्षुब्ध किया हो किन्तु आज का पाठक इसे पढ़कर आलोचक के आवेगपूर्ण प्रतिपादन और उसकी विचार-दृढ़ता को सरलता से समझ सकता है। शुक्लजी ने रहस्यवाद को अपनी व्यक्तिगत रुचि और सिद्धान्त के विपरीत पाया था, अतः युग-प्रवाह के विपरीत जाकर भी उसका तीव्र विरोध किया। यही निबन्ध 'चिन्तामणि' के दूसरे भाग मे संकलित हो गया है।

(५) 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'—नाम से आज जो निबन्ध 'चिन्तामणि' के दूसरे भाग मे संकलित है वह, वस्तुतः, इन्दौर मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-परिषद् के अध्यक्षपद से दिया गया भाषण है जो सन् १९३२ ई० मे तैयार किया गया था। सम्मेलन की ओर से यह भाषण रूप मे अलग प्रकाशित भी हुआ था। इसमे भाषण का रंग प्रारम्भ और अन्त मे ही दिखाई पड़ता है; शेषांश गम्भीर विश्लेषणात्मक निबन्ध के रूप में है जिसे मनोयोगपूर्वक अध्ययन करके ही

समझा जा सकता है। सम्मेलन के मंच पर से साहित्य-विषयक ऐसा गम्भीर भाषण दूसरा नहीं दिया गया।

(६) 'रस-मीमांसा'—यह साहित्य-सिद्धान्त निरूपक ग्रन्थ है और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित होकर शुक्लजी की मृत्यु के प्रायः आठ साल बाद सन् १६४६ ई० में प्रकाशित हुआ। शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना को किन सिद्धान्तों का संवल प्राप्त था था इसका ठीक-ठीक पता प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से ही लग सकता है। इसका अधिकांश १६२३-२४ ई० के आस-पास ही लिख लिया गया था और कुछ भाग परिमार्जित होकर साहित्यिक निवन्धों के रूप में अलग प्रकाशित भी हो गया किन्तु शेषांश जहाँ-तहाँ बिखरा ही रहा। मिश्रजी के अनवरत उद्योग से ही सब सामग्री सुसंवद्ध रूप में पुस्तकाकार संकलित की जा सकी। इस पुस्तक के अन्त में मूल अंग्रेजी और हिन्दी अनुवाद के साथ वे टिप्पणियाँ भी पहली बार प्रकाशित हुई हैं जो शुक्लजी ने अपनी सिद्धान्त-विषयक पुस्तिका के लिए बनाई थी। हिन्दी-आलोचना के दुर्भाग्य से यह पुस्तिका वे तैयार न कर सके।

निवन्ध—निबन्ध के क्षेत्र में अपनी थोड़ी-सी रचनाओ द्वारा ही शुक्लजी ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। 'चिन्तामणि' के दो भागो में उनके सभी निवन्ध समाविष्ट हैं। वस्तुतः पहले भाग के निबन्धो के कारण ही शुक्लजी को हिन्दी-गद्य के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया है। दूसरे भाग के कुछ बड़े आकार वाले निवन्धो का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पहले भाग में मनोविकार-विषयक निवन्धों के अति-रिक्त कुछ साहित्य-सम्बन्धी निवन्ध भी है। सन् १६१२ ई० से लेकर १६१६ ई० तक 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में मनोवि-कार सम्बन्धी निवन्ध शुक्लजी ने प्रकाशित किये थे। तव 'पत्रिका' का सम्पादन भी वे ही करते थे। अतः लेखक का नाम वहाँ नही दिया गया। कालांतर में विचार-वीथी, में वे सभी निवन्ध संकलित कर लिये

गए। आज 'चिन्तामरिण' (१९३९ ई०) प्रथम भाग में सबका सन्निवेश कर लिया गया है। 'कविता क्या है?' शीर्षक लम्बा निवन्ध भी सन् १९०९ की 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुआ था। अपने परिमार्जित रूप मे वह चिन्तामरिण के प्रथम भाग मे उपलभ्य है। संग्रह के शेष निवन्ध भी समय-समय पर लिखे गये थे लेकिन प्रकाशन से पूर्व उनकी शैली विवेचन-पद्धति और भाषा को प्रत्येक दृष्टि से सँवारा गया है। ऐसा होते हुए भी मूल-विचारधारा एवं स्थापना में कोई तात्त्विक परिवर्तन लक्षित नही होता।

इतिहास—(१) आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का निर्माण करके एक दुस्साध्य कार्य सपन्न कर दिया था। यह पहली बार 'हिन्दी शब्द-सागर' के एक स्वतन्त्र खण्ड के रूप मे १९२९ में प्रकाशित हुआ था। वस्तुतः उक्त कोश के निमित्त 'हिन्दी-साहित्य' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में यह विशाल ग्रन्थ लिखा गया था। उसी खण्ड मे 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' भी मुद्रित था जिसके लेखक वावू श्यामसुन्दर दास थे। कुछ ही दिनो बाद दोनो ग्रन्थ स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में परिवर्द्धित होकर, प्रकाशित हुए। शुक्लजी के 'इतिहास' का वर्तमान रूप १९४० ई० मे संशोधित होकर तैयार हुआ था। आज यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि सही अर्थों में हिन्दी-साहित्य का वास्तविक इतिहास, शुक्लजी ने ही पहली बार लिखा। त्रुटियाँ तो प्रत्येक कार्य मे रहती है, अपनी निजी और युग की सीमाएँ भी प्रत्येक लेखक के साथ रहती है और इसमे सन्देह नही कि शुक्लजी के 'इतिहास' की अपनी सीमाएँ और त्रुटियाँ है, किन्तु फिर भी उनकी इस रचना का स्थान कोई अन्य रचना ग्रहण कर ले, यह अब तक नहीं हो सका।

(२) हिन्दुस्तानी का उद्गम—यह १५-१६ पृष्ठों की एक छोटी-सी पुस्तिका है जो १९३८ ई० में लिखी गई थी। इसे हिन्दी-साहित्य

के इतिहास में सरलतापूर्वक अंतर्भुक्त किया जा सकता है किन्तु स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में प्रकाशित होने के कारण अलग उल्लेख की अपेक्षा रखती है। इसमे भाषा और साहित्य का सम्बन्ध समझाते हुए हिन्दी की स्वभावगत विशेषताओ का निरूपण किया गया है और 'हिन्दुस्तानी' को एक 'कृत्रिम', 'गढ़ी हुई' और 'अर्थ-परम्परा से हीन' भाषा प्रमाणित किया गया है। इस प्रकार इसे भाषा का इतिहास माना जा सकता है।

भूमिकाएँ—आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक साहित्य में उन लघु भूमिकाओं का स्वतन्त्र उल्लेख आवश्यक है जो उस युग के नये लेखकों की कृतियों की प्रस्तावना के रूप में लिखी गई थी। ऐसी प्रस्तावनाएं उन्होंने कम ही लिखी हैं, किन्तु पुस्तक के मूल तत्त्व को सार रूप में प्रस्तुत कर देने की कला का बहुत अच्छा परिचय उनसे मिल जाता है। अनपेक्षित प्रोत्साहन अथवा संवर्द्धना के लिए ये नहीं लिखी गई हैं। निम्नांकित ग्रन्थों में ये भूमिकाएं उपलब्ध हैं—

(१) 'हिन्दी-गद्य शैली का विकास' (ले० डॉ० जगन्नाथ शर्मा) १९३० ई०।

(२) 'शेषस्मृतियाँ' (ले० डॉ० रघुवीर सिंह) १९३८ ई०

(३) 'प्रेमघन सर्वस्व' (सम्पादित) १९३९ ई०।

(४) 'विनयपत्रिका'—हरितोषिणी टीका (ले० वियोगीहरि)—[यह भूमिका चिन्तामणि में एक निबन्ध के रूप में संकलित हो गई है।]

ऊपर की पहली पुस्तक आलोचनात्मक है। दूसरी एक प्रकार का गद्य-काव्य है, तीसरी पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की रचनाओं का संकलन है और चौथी टीका है। शुक्लजी की भूमिकाएँ विभिन्न ग्रंथो की अन्तर्वर्त्तिनी समस्यायों का वास्तविक रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है।

गए। आज 'चिन्तामणि' (१६३६ ई०) प्रथम भाग मे सबका सन्निवेश कर लिया गया है। 'कविता क्या है ?' शीर्षक लम्बा निवन्ध भी सन् १६०६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। अपने परिमार्जित रूप मे वह चिन्तामणि के प्रथम भाग मे उपलभ्य है। संग्रह के शेष निवन्ध भी समय-समय पर लिखे गये थे लेकिन प्रकाशन से पूर्व उनकी शैली विवेचन-पद्धति और भाषा को प्रत्येक दृष्टि से सँवारा गया है। ऐसा होते हुए भी मूल-विचारधारा एवं स्थापना में कोई तात्त्विक परिवर्तन लक्षित नही होता।

इतिहास—(१) आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का निर्माण करके एक दुस्साध्य कार्य संपन्न कर दिया था। यह पहली बार 'हिन्दी शब्द-सागर' के एक स्वतन्त्र खण्ड के रूप में १६२६ मे प्रकाशित हुआ था। वस्तुतः उक्त कोश के निमित्त 'हिन्दी-साहित्य' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में यह विशाल ग्रन्थ लिखा गया था। उसी खण्ड मे 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' भी मुद्रित था जिसके लेखक वाबू श्यामसुन्दर दास थे। कुछ ही दिनो बाद दोनो ग्रन्थ स्वतन्त्र पुस्तको के रूप में परिवर्द्धित होकर, प्रकाशित हुए। शुक्लजी के 'इतिहास' का वर्तमान रूप १६४० ई० में संशोधित होकर तैयार हुआ था। आज यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि सही अर्थों में हिन्दी-साहित्य का वास्तविक इतिहास, शुक्लजी ने ही पहली बार लिखा। त्रुटियाँ तो प्रत्येक कार्य मे रहती है, अपनी निजी और युग की सीमाएँ भी प्रत्येक लेखक के साथ रहती है और इसमे सन्देह नही कि शुक्लजी के 'इतिहास' की अपनी सीमाएँ और त्रुटियाँ है, किन्तु फिर भी उनकी इस रचना का स्थान कोई अन्य रचना ग्रहण कर ले, यह अब तक नहीं हो सका।

(२) हिन्दुस्तानी का उद्गम—यह १५-१६ पृष्ठों की एक छोटी-सी पुस्तिका है जो १६३८ ई० में लिखी गई थी। इसे हिन्दी-साहित्य

के इतिहास में सरलतापूर्वक अंतर्भुक्त किया जा सकता है किन्तु स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में प्रकाशित होने के कारण अलग उल्लेख की अपेक्षा रखती है। इसमे भाषा और साहित्य का सम्बन्ध समझाते हुए हिन्दी की स्वभावगत विशेषताओं का निरूपण किया गया है और 'हिन्दुस्तानी' को एक 'कृत्रिम', 'गढ़ी हुई' और 'अर्थ-परम्परा से हीन' भाषा प्रमाणित किया गया है। इस प्रकार इसे भाषा का इतिहास माना जा सकता है।

भूमिकाएँ—आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक साहित्य मे उन लघु भूमिकाओं का स्वतन्त्र उल्लेख आवश्यक है जो उस युग के नये लेखकों की कृतियों की प्रस्तावना के रूप में लिखी गई थी। ऐसी प्रस्तावनाएं उन्होंने कम ही लिखी हैं, किन्तु पुस्तक के मूल तत्त्व को सार रूप मे प्रस्तुत कर देने की कला का बहुत अच्छा परिचय उनसे मिल जाता है। अनपेक्षित प्रोत्साहन अथवा संवर्द्धना के लिए ये नही लिखी गई है। निम्नांकित ग्रन्थों मे ये भूमिकाएं उपलब्ध हैं—

(१) 'हिन्दी गद्य शैली का विकास' (ले० डॉ० जगन्नाथ शर्मा) १९३० ई०।

(२) 'शेषस्मृतियाँ' (ले० डॉ० रघुवीर सिंह) १९३८ ई०

(३) 'प्रेमघन सर्वस्व' (सम्पादित) १९३९ ई०।

(४) 'विनयपत्रिका'—हरितोषिणी टीका (ले० वियोगीहरि)—[यह भूमिका चिन्तामणि मे एक निबन्ध के रूप में संकलित हो गई है।]

ऊपर की पहली पुस्तक आलोचनात्मक है। दूसरी एक प्रकार का गद्य-काव्य है, तीसरी पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की रचनाओं का संकलन है और चौथी टीका है। शुक्लजी की भूमिकाएँ विभिन्न ग्रंथो की अन्तर्वर्त्तिनी समस्यायों का वास्तविक रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है।

उनके द्वारा अनूदित ग्रन्थो की मौलिक भूमिकाओ का भी अपना अलग महत्त्व है। दुर्भाग्य से इनका प्रकाशन स्वतन्त्र ग्रंथों अथवा निवन्ध-संग्रहो के रूप मे न हो सका, इसलिए अभी तक ये अनूदित पुस्तको के साथ उपेक्षित पड़ी हैं। साहित्येतर समस्याओं पर आचार्य का क्या दृष्टिकोण था और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओ से वे किस सीमा तक परिचित थे इसका पता केवल इन भूमिकाओ को देखने से ही मिल सकता है। 'विश्व-प्रपंच' की विस्तीर्ण भूमिका मे पदार्थवादी एवं आत्मवादी दर्शनों की तुलनात्मक मीमांसा है। 'बुद्धचरित' मे हिन्दी की बोलियो, विशेषतः व्रजभाषा और अवधी, का संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण निरूपण है। 'मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन' मे इतिहास सम्वन्वी संगत टिप्पणी है। 'राज्य-प्रवन्ध-शिक्षा', की भूमिका मे अनुभव एवं व्यवहार-कुशलता की मनोवैज्ञानिक मीमासा हुई है। भूमिका चाहे वड़ी हो या छोटी, विषय-विवेचन की दृष्टि से प्रत्येक महत्त्वपूर्ण है।

काव्य-साहित्य—अपने साहित्यिक जीवन का सूत्रपात आचार्य शुक्ल ने कविता द्वारा ही किया था। 'सरस्वती', 'आनन्दकादम्बिनी' आदि पत्रिकाओं में इनकी कविताएं प्रकाशित हुई थी किन्तु, आज तक पुस्तकाकार संकलित न हो सकी। काव्य-रचना के लिए उन्होंने व्रजभाषा का माध्यम सुखकर समझा यद्यपि खड़ी-वोली मे भी सुन्दर कविताएँ लिखी। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता खड़ी-वोली मे है और 'शिशिर-पथिक' व्रजभाषा मे। शुक्लजी की इन कविताओ का इतिहासिक महत्त्व आज भी स्वीकार किया जाता है।

कहानी—'ग्यारह वर्ष का समय' नाम की एक छोटी कहानी शुक्लजी ने लगभग १७ वर्ष की आयु मे लिखी थी जो सन् १९०३ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित है। यह ध्यान में रखने की वात है कि उन दिनो कहानी लिखने का कार्य, हिन्दी-साहित्य में, शुरू ही हुआ था। केवल

दो-एक कहानियाँ ही इससे पूर्व प्रकाशित हुई थीं। आलोचकों ने सिद्ध किया है कि शिल्पविधि की आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' ही है। यद्यपि शुक्लजी ने फिर कभी कोई कहानी नही लिखी तथापि उनकी एक ही लघु रचना ने इस क्षेत्र में भी उन्हे अमर कर दिया।

सम्पादन—आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के प्रमुख आकर-ग्रंथों का संपादन किया था। उन दिनों आवश्यकता इतनी ही थी कि किसी भाँति मूल ग्रंथ को व्यवस्थित रूप में पाठकों के समक्ष रख दिया जाय। ग्रंथों के वैज्ञानिक-संपादन का कार्य तब तक प्रारम्भ नही हुआ था। इसलिए शुक्लजी ने भाषा और अर्थ परम्परा पर दृष्टि रखकर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन कर डाला। वे ग्रन्थ निम्नांकित है—

(१) तुलसी ग्रन्थावली—(सम्पादक-मण्डल के साथ),
(२) भ्रमरगीतसार,
(३) जायसी ग्रन्थावली,
(४) भारतेन्दु-साहित्य,
(५) वीरसिंह देव चरित,
(६) अनुराग बांसुरी (पंडित चंद्रबली पांडेय के सहयोग से)—मृत्यु के बाद प्रकाशित।

'भारतेन्दु-साहित्य' को छोड़ शेष काव्य-ग्रन्थ है और पाठ-निर्णय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शुक्लजी ने यथासंभव मूल पाठ प्राप्त करने का उद्योग किया, चाहे उनका रास्ता वैज्ञानिक भले ही न रहा हो। 'भ्रमरगीतसार' मे पदों का चयन किया गया है किन्तु अर्थसंगत मूल पाठ की समस्या वहाँ भी थी। 'भारतेन्दु-साहित्य' मे खड़ी-बोली गद्य पर दृष्टि रख करके भारतेन्दु के नाटकों के कुछ अशों और निबन्ध का संकलन किया गया है। प्रारम्भ मे एक लम्बी भूमिका भी है जो भारतेन्दु के युगान्तरकारी व्यक्तित्व का परिचय देती है।

शुक्ल-साहित्य का यह संक्षिप्त परिचय-मात्र है। इसे देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि उन्होने अनेक दिशाओं में नूतन मार्गो का निर्माण तो किया ही पूर्व-परिचित पथो को स्वच्छ और प्रशस्त भी बनाया। प्रत्येक क्षेत्र में उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। विचार-पूर्ण होने के कारण उनका साहित्य गम्भीर विवेचन और मूल्यांकन की अपेक्षा रखता है। अगले अध्यायों में हम उनके साहित्य का कुछ अधिक परिचय देते हुए उसका महत्त्व आंकने का प्रयास करेंगे।

अध्याय : : २

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल

पूर्ववर्त्ती आलोचक और आचार्य शुक्ल—

हिन्दी-साहित्य मे आधुनिक ढंग की आलोचना का शुभारम्भ 'भारतेन्दु-युग' में चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' की विस्तृत समीक्षात्मक टिप्पणियों द्वारा हुआ। ये टिप्पणियाँ उन्ही द्वारा संपादित 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में जब तब प्रकाशित होती थी। इसी पत्रिका में एक बार लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की विस्तृत समीक्षा 'प्रेमघन' जी ने प्रकाशित की। विद्वानों का अनुमान है कि हिन्दी में आधुनिक आलोचना का सूत्रपात उसी से हुआ।

जैसा स्वाभाविक था आलोचना की प्रारम्भिक स्थिति में मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण एवं व्यावहारिक आलोचना का उच्चतर आदर्श उपस्थित न किया जा सका। रचना के कुछ विशिष्ट गुण-दोपो की ओर संकेत और रचयिता के व्यक्तिगत दोषों का उद्घाटन करना ही आलोचक का अन्तिम कर्त्तव्य समझ लिया गया। अपने निष्कर्षों को सुपुष्ट शास्त्रीय पृष्ठाधार देने और आलोच्य कृति को जीवन के साथ सुश्रृंखलित कारण-कार्य परंपरा में बिठाने का उद्योग तब का आलोचक नही करता था।

द्विवेदी-युग में भी आलोचना का प्राचीन आदर्श ही अधिक मान्य रहा किन्तु इतिहास-चेतना के प्रबल हो जाने के कारण व्यापक साहित्या-दर्शो के प्रतिष्ठित होने की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो गई थी। इस क्षेत्र मे मिश्र-बन्धुओ का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' और 'हिन्दी-नवरत्न' लिखकर साहित्येतिहास की नींव त[illegible] रखी ही आलोचना के मूल्यो में भी गुणात्मक परिवर्त्तन [illegible] दिया। सबसे बड़ा कार्य इनके द्वारा यह हुआ कि सा[illegible]

इतिहास के विभिन्न संदर्भों—राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक इत्यादि—में रखकर समझा-समझाया जाने लगा।

पर उस युग की सीमाएँ भी थी। पहली सीमा है कवियों का श्रेणी-विभाजन या कोटि-निर्धारण। मिश्र-बन्धुओं की प्रत्येक समीक्षा का अंतिम निष्कर्ष प्रायः यही रहता था कि अमुक कवि महाशय प्रथम श्रेणी मे हैं और अमुक द्वितीय श्रेणी में। 'हिन्दी-नवरत्न' में उन्होने स्पष्ट लिखा है कि—"इन कवियों को इस ग्रन्थ में काल-क्रम स स्थान नहीं मिला है, पर काव्योत्कर्ष के आधार पर इन कवियों में ऊँच-नीच का भेद कर लिया गया है।"

ध्यान देने की बात है कि श्रेणी-विभाजन के पीछे तुलनात्मक आलोचना की प्रेरणा ही कार्य कर रही थी जो आगे चलकर पंडित पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में नवीन उन्मेष के साथ विकसित हुई। शर्मा जी मे पांडित्य और रसज्ञता का अद्भुत संयोग था। इसलिए अनेक कवियो को एक ही भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करके उनके कृतित्व की व्यंग्य-विद्रूपमयी पाडित्यपूर्ण मीमासा करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। फिर भी यह कहा जायेगा कि उन्होने आलोचना के वे मान-मूल्य नही प्रतिष्ठित किये जो परवर्त्ती आलोचको के हाथ मे नि शंक भाव से सौंप दिये जाते। उनकी विवेचन-पद्धति भी निराली थी। नये लेखकों ने जब उस पर चलने का उपक्रम किया तो आलोचना के गंभीर वातावरण में महफिल की-सी चुहल-बाजी शुरू हो गई। संस्कृत रुचि के लोग इस पद्धति से पनाह माँगने लगे। द्विवेदी-युग की दूसरी सीमा आलोचना की यह पद्धति ही थी।

तीसरी सीमा थी स्थूल उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति। जब कवि-गरण अपने छन्दोबद्ध उपदेशो द्वारा जन-साधारण को कर्त्तव्यपथ पर अग्रसर करने का उद्योग कर रहे थे तब आलोचकगण कवियों के कर्त्ता-कर्त्तव्य उद्घोषित करने लगे। इसमें कोई सन्देह नही कि सृजनात्मक

चेतना को आलोचना की ओर से प्रोत्साहन, संवर्द्धन एवं दिशा-निर्देश मिलना चाहिए किन्तु शुष्क उपदेश और कोरे आदर्श के रूप मे उसे ग्रहण करने को कौन तैयार होगा ? साहित्यिक प्रवृत्तियों की आन्तरिक जटिलता का मंथन करने से जो नवनीत रूप निष्कर्ष हाथ लगते है उन्ही का सदुपयोग सर्जना में हो सकता है। तट पर बैठकर यह कहने वाला आलोचक कि 'साहित्य जनता के लिए लाभकारी होना चाहिए' 'कविता की शैली 'सरल और सरस होनी चाहिए' 'कवि को ऐसा या वैसा होना चाहिए' रचनात्मक साहित्य को प्रेरणा और दिशा-निर्देश नही प्रदान कर सकता। स्वयं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शुद्ध-भाषा सम्बन्धी निर्देशों के साथ काव्य-सम्बन्धी निर्देश भी दिये थे। उनकी आलोचना में 'क्या होना चाहिए' और 'क्या नही होना चाहिए' का संकेत पग पग पर मिलता है।

चौथी सीमा है काव्य के रचनात्मक उपादानो का पुराना-पन। द्विवेदी-युग मे साहित्यादर्श बदल गये थे, किन्तु जिस प्रकार खड़ी-बोली की नई काव्यधारा के समानान्तर व्रज भाषा की पुरानी काव्य-परंपरा चलती चल रही थी उसी प्रकार सामंत-युग के रस-अलकार-छन्द सम्बन्धी प्रतिमाने आलोचना को जकड़े चले जा रहे थे। इन प्रतिमानों को नव-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियो के साथ समंजित करना अत्यन्त आवश्यक था। किन्तु यह कार्य तब तक संपन्न नही हो सकता था जब तक कोई उद्‌भावक आचार्य मूल स्थापनाओ का कायाकल्प न कर दे। दुर्भाग्यवश द्विवेदी-काल की सीमा मे यह कार्य न हो सका। वस्तुतः प्रथम श्रेणी का गम्भीर समीक्षक उस युग में उत्पन्न ही नही हुआ। शुक्लजी के मौलिक चिन्तन का स्पर्श पाकर ही आलोचना के उक्त परंपरागत मान-मूल्यों मे प्रखर तेजस्विता और नूतन निखार उत्पन्न हुआ।

बीसवी शताब्दी के तीसरे दशक (अर्थात् सन् १९२० से लेकर सन् १९३० ई० तक) मे आलोचक रूप मे, आचार्य शुक्ल की प्रतिष्ठा हुई

और उनकी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित हुईं। द्विवेदी-युगीन आचार्य तब भी संपूज्य थे और उनके विचारों और पाडित्य की धाक जमी हुई थी। साहित्य क्षेत्र में उनकी वरिष्ठता और ज्येष्ठता भी सम्मान्य थी। फिर भी शुक्लजी का स्वर आलोचना के आकाश मे ऊँचा उठता चला गया। वैसी जगमगाती हुई विद्वन्मण्डली के बीच अपनी बात कह लेने की ही नही मनवा लेने की योग्यता प्रमाणित करके शुक्लजी ने अपने दृढ़-आत्मविश्वास और संयत विवेक का परिचय दिया। उनके उद्भावनाशील मस्तिष्क का इससे ठोस प्रमाण और क्या हो सकता है ? रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र मे भी तीसरा दशक सर्वाधिक सौभाग्यशाली प्रमाणित हुआ। 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला' की कविताएँ, प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियाँ, 'प्रसाद' के नाटक एवं एकांकी और नई पीढी के अनेक तेजस्वी कलाकारों की रचनायें इसी दशक की देन है। यह सब-कुछ आकस्मिक नही था। एक लंबे अर्से से इस युग की सृजनात्मक भूमिका निर्मित हो रही थी। शुक्लजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण भी उसी भूमिका में हुआ था। जिन परिस्थितियों ने खड़ी-बोली हिन्दी की सृजनशीला चेतना को एक विशेष दिशा मे प्रेरित किया उन्होंने आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक प्रतिभा को दूसरी स्वतन्त्र एवं विशिष्ट दिशा की ओर अग्रसर किया। विचारों एवं सिद्धान्तों में विलक्षण वैपरीत्य होने पर भी उनकी समीक्षा को तत्कालीन रचनात्मक साहित्य से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। हमारे सांस्कृतिक विकास की द्वन्द्वात्मक प्रगति—विशेषरूप से २०वी शताब्दी की—से परिचित प्रत्येक पाठक इस वैपरीत्य को सहज भाव से ग्रहण कर सकता है।

यह कहना भी युक्ति-संगत नही है कि आचार्य शुक्ल की आलोचना में द्विवेदी-युगीन नीतिमत्ता और आदर्शवादिता का ही चरम विकसित रूप दिखाई पडता है। निष्पक्ष रूप से देखने पर उनके समीक्षादर्श और

उनकी विवेचना-पद्धति द्विवेदी-युग के प्रतिमानों और पद्धतियों से गुणात्मक भिन्नता रखती मालूम पड़ेगी। दूसरे शब्दों में वे दोष-दर्शन, गुणकथन, निर्णय, तुलना और साधुवाद की स्थूल प्रवृत्तियों से हिन्दी आलोचना को मुक्त करने वाले प्रमाणित हुए। ऐसी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी-युग मे यथासम्भव सम्मानित रही। फिर कैसे माना जा सकता है कि शुक्लजी की आलोचना मे पूर्ववर्त्ती युग का चिन्तन ही अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ ?

फिर भी हम यह कहना चाहेगे कि हिन्दी आलोचना के स्वाभाविक उत्थान-क्रम में ही उनका आविर्भाव हुआ था। वे समीक्षा की उसी परंपरा को अग्रसर कर रहे थे जिसे पंडित बदरीनारायण चौधरी ने 'भारतेंदु-युग' मे प्रारम्भ किया था। जब हम ऐसा कहते हैं तब 'परंपरा' शब्द का क्या अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है। 'परंपरा' मे परिमाणात्मक विकास, और गुणात्मक विकास—दोनों का ग्रहण होता है। गुणात्मक विकास मे वस्तु के स्वरूप और तत्त्व में गहरा गुणमूलक परिवर्तन हो जाया करता है जो कभी-कभी नई वस्तु को पुरानी वस्तु की सापेक्षता मे बिल्कुल उलटा कर देता है। दोनों मे प्रत्यक्ष विरोध भासित होने लगता है। इसका यह अर्थ कदापि नही कि दोनों की वंशानुक्रमिक एकता को भंग मान लिया जाय—तत्त्वतः दोनों को एक मानना ही वैज्ञानिक है। 'परंपरा' के इसी अर्थ में द्विवेदी-युगीन काव्य-साहित्य और छायावादी काव्य को एक ओर तथा द्विवेदी-युगीन समीक्षा और शुक्लजी की समीक्षा को दूसरी ओर ग्रहण करना वैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन है। किसी अन्य अर्थ में इन्हे परस्पर संयुक्त करना भ्रान्तिमूलक है।

हम समझते हैं कि आलोचक रूप में शुक्लजी के व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष करने के लिए ऊपर कही गई बाते पर्याप्त होंगी। उनसे निर्मित संदर्भ मे न केवल आचार्य द्वारा उद्भावित समीक्षा-सिद्धान्तों को ही

समझा-समझाया जा सकता है बल्कि व्यावहारिक आलोचनाओं का मर्म एवं महत्त्व भी उद्घाटित किया जा सकता है। बहुधा यह घोषित किया जाता है कि आचार्य शुक्ल जितने सफल समीक्षक थे उतने सफल सिद्धान्त व्यवस्थापक नहीं। वे अधिक-से-अधिक, खंड-सिद्धान्तों का निर्माण कर सकते थे किन्तु उनको समंजित करके एक सर्वांगपूर्ण अखण्ड-सिद्धान्त की अवतारणा नहीं कर सकते थे। दूसरे शब्दों मे वे व्यावहारिक समीक्षा मे जितने कुशल और व्युत्पन्न थे उतने सैद्धान्तिक समीक्षा में नही। इस कथन को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम डॉ० देवराज का निम्नांकित वक्तव्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

"वे (शुक्लजी) जहाँ रसानुभूति के विभिन्न अवसरों पर असाधारण खंड-सिद्धान्तों का आविष्कार कर डालते हैं वहाँ उन खण्ड-सिद्धान्तों का एक महासिद्धान्त के रूप में समन्वय नहीं कर पाते। वे रिचर्ड्स की भाँति सिद्धान्त पद्धति के निर्माण (System Building) में पटु नही है।"

इस स्थापना की समीक्षा करने से पहले हम यह निवेदन कर देना चाहते है कि शुक्लजी साहित्य-चिन्तन एवं सिद्धान्त-व्यवस्थापन में उतने ही प्रवीण थे जितने समीक्षा के व्यावहारिक कार्य मे। यह अवश्य है कि समीक्षा-सिद्धान्त पर उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ अपने जीवन-काल में नहीं लिखा। पर क्या ऐसा ग्रन्थ लिख देने मात्र से ही कोई उद्भावक आचार्य का पद प्राप्त कर लेता है? उनकी लिखी हुई 'रस-मीमांसा' नाम्नी पुस्तिका पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र के हाथों सम्पादित होकर, उनकी मृत्यु के बाद, प्रकाशित हुई है। उनके सिद्धान्त-चिन्तन की योजना का पूरा परिचय उसे देखने पर मिल जाता है। साहित्य के मान-मूल्य को लेकर उन्होंने एक स्वतन्त्र एवं सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ की योजना भी बनाई थी, लेकिन उसे सम्पन्न न कर सके। अवश्य ही उनके मस्तिष्क में साहित्य-शास्त्र की नई सम्भावनाओं का उदय हो चुका था

जिसे लिपि-बद्ध करने के लिए वे उद्यत थे। कोई यह तो नही कह सकता कि वे 'साहित्य-दर्पण' या 'काव्य-प्रकाश' को हिन्दी-भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने जा रहे थे ?

परन्तु सिद्धान्त-चिन्तन मे उनकी योग्यता को प्रमाणित करने के लिए ऐसी किसी पुस्तक का लिखा जाना, हम आवश्यक नही समझते। उनकी व्यावहारिक आलोचनाओ को ध्यान से देखने पर यह सिद्ध हो जाता है कि विभिन्न अवसरों पर अनेक खण्ड-सिद्धान्तों का निर्माण और काव्य की अन्तर्वर्त्ती विशिष्टताओ का व्याख्यान वे नितान्त अविरोधी भाव से करते चले जाते हैं। यदि उनके पास किसी व्यापक एवं सर्वांगपूर्ण महासिद्धान्त का सवल न होता तो इस कार्य मे उन्हे इतनी सफलता कैसे मिलती ? कोई व्यक्ति द्वन्द्व-हीन ढंग से शतश. मूल्यवान साहित्यिक निष्कर्षो को भिन्न-भिन्न अवसरो पर तब तक नही उपलब्ध कर सकता जब तक साहित्य एवं जीवन के प्रति एक निश्चित बद्धमूल धारणा उसका संस्कार न बन गई हो। शुक्लजी के साथ ऐसा ही हुआ था। इसलिए उनके शास्त्र-चिन्तन में भी बुद्धि के स्वर के स्थान पर विवेक का शब्द सुनाई पडता है। ऐसा लगता है जैसे अपनी बात तर्क और बुद्धि के जोर से नही आत्म-विश्वास के बल पर मनवा लेना चाहते हो। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वे शास्त्र-नियमों को संस्कार की सीमा तक आत्मसात् कर चुके थे।

इस प्रसंग मे एक अन्य तथ्य का उल्लेख आवश्यक है। शुक्लजी ने रसवाद का समर्थन किया था, यह सभी जानते है किन्तु यह समझना भारी भ्रम है कि वे किसी सिद्धान्त के समर्थक या व्याख्याता मात्र थे, यद्यपि सहज विनम्रता वश उन्होने अपने आपको इसी कोटि मे रखा। समर्थन और व्याख्यान भी उन्होने अद्भुत लाघवपूर्वक किया किन्तु यह तो एक प्रासंगिक कार्य था। वस्तुत. उन्होंने नव-युग के अनुरूप रस-शास्त्र का एक सर्वथा नवीन एवं सर्वांगपूर्ण रूप निर्मित कर दिया जो

मूलतः प्राचीन परिचित शब्दावली के माध्यम से निरूपित होने पर भी अधुनातन विचार-सरणियो का संश्लेषण कर सकता था। भरत मुनि द्वारा उत्थापित रस-सिद्धान्त जिस प्रकार प्राचीन आचार्यो द्वारा निरूपित संशोधित, परिवर्द्धित और आकल्पित होता रहा उसी प्रकार आचार्य, शुक्ल द्वारा भी हुआ। अंतर केवल यह था कि साहित्य एव जीवन की मूल स्थिति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाने के कारण प्रतिष्ठित सिद्धान्त के आदिम रूप मे व्यापक संशोधन करने की स्थिति और संभावना जितनी शुक्लजी के सामने प्रत्यक्ष हो सकी थी उतनी प्राचीन आचार्यो के सामने नही रही। इस दृष्टि से उनका उत्तरदायित्व औरो की अपेक्षा अधिक गभीर और कठिन माना जायेगा। इसी के अनुरूप उनका शास्त्र-चिंतन भी मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण ठहरता है। ऐसी स्थिति मे यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि शुक्लजी ने सर्वांगपूर्ण महा-सिद्धान्त की व्यवस्थापना करने मे सफलता नही पाई ? इस सबन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उन्होंने साहित्य-शास्त्र-विषयक सभी प्रश्नों पर विचार नही किया। किसी अन्य आचार्य ने शास्त्र-निर्माण की प्रक्रिया मे सभी प्रश्नो पर विचार कर लिया हो, ऐसा उदाहरण भी नही मिलता। सर्वांगपूर्ण साहित्य-शास्त्र का यह अभिप्राय भी नहीं है। उसकी पहचान केवल इतनी है कि उसके आधार पर किसी युग विशेष मे, साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियो की सगत व्याख्या हो पाती है अथवा नही। सिद्धान्त के क्षेत्र में उठने वाले अन्य प्रश्नों का समाधान उस साहित्य-शास्त्र द्वारा होता है अथवा नही, यह निर्णय करना भी उसकी सर्वांगपूर्णता का परिचय पाने के लिए आवश्यक है। आचार्य शुक्ल-निर्मित काव्य-शास्त्र इसी अर्थ मे व्यापक एवं पूर्ण है। जिन प्रश्नो पर उन्होने विचार नही किया उनकी मीमासा भी मूल सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उनके आधारभूत सिद्धान्त को हृदयंगम कर ले।

शुक्लजी का साहित्य-शास्त्र

अब यह जिज्ञासा स्वभावतः ही उत्पन्न होती है कि शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धान्त का मूलरूप क्या था। वे कवि-कर्म की चरम-सिद्धि 'भावयोग' के रूप मे देखते हैं और इसे ज्ञानयोग और कर्मयोग के समकक्ष रखते हैं। 'भावयोग' ही उनके संपूर्ण साहित्यिक एवं साहित्येतर विचार-परम्पराओ की कुन्जी है। इस योग मे एक ओर पाठक अथवा श्रोता का तादात्म्य हो जाता है दूसरी ओर आलम्बन का साधारणीकरण, और चरमावस्था पर पहुँचकर आश्रय और आलम्बन मे भी एकता स्थापित हो जाती है। कवि-कर्म इसका प्रमुख साधन है। इसके उपकारक उपादान ही इसके संयोजक अवयव हैं। इस प्रकार यह एक अनुपम योग है जो मनोमय कोश के स्तर पर, लोक-सामान्य भाव-भूमि मे ही सुलभ हो जाता है। कहना व्यर्थ है कि इस धारणा मे योग-शास्त्र की प्राचीन रूढ़ियो—विशेषकर आध्यात्मवादी आयामो—का तो खंडन किया ही गया है रस की लोकोत्तरता को भी अस्वीकृत करने का साहस किया गया है। फिर भी, जैसा हम पहले कह आये हैं, शुक्लजी का उक्त सिद्धान्त रस-शास्त्र की परम्परा मे ही पड़ता है।

विस्तार मे जाने पर, 'भाव-योग' के विभिन्न सहकारी उपादान और उनका परस्पर नियोजन अनेक प्रकार की समस्याएँ खड़ी करते हैं। शुक्लजी आजीवन उन समस्याओ का निदान-समाधान करते रहे और सब को समन्वित करने मे बहुधा सफल रहे। हम उनके प्रमुख स्थापना-सूत्रो पर, इस सिद्धान्त के आधार पर विस्तार से विचार करेंगे किन्तु उससे पहले उन प्रेरक स्रोतों और परिस्थितियों को पाठकों के समक्ष रख देना आवश्यक समझते हैं जिन्होंने उनके विशिष्ट साहित्यिक दृष्टिकोण को रूपायित किया था।

हम पहले कह आये है कि उनकी शिक्षा मिर्जापुर मे हुई थी। वही रहते हुए, उनका ध्यान मनोविज्ञान के विस्तृत अध्ययन की ओर गया। उनके छोटे भाई पंडित हरिश्चन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि ६वी कक्षा मे पढ़ते समय ही वे हर्बर्ट स्पेंसर की 'साइकॉलोजी' नामक पुस्तक का घंटो अध्ययन किया करते थे। आगे चलकर मनोविज्ञान के अन्य अनेकानेक पंडितां की प्रामाणिक विवेचनात्मक पुस्तको का उन्होने अध्ययन किया और सबसे अत मे शैण्ड नामक मानस-शास्त्र-वेत्ता के विचारों का मनन करते-करते अपने स्वतंत्र विचारों के निर्माण मे सफलता पाई। स्पेंसर और शैंड के मध्यवर्त्ती एव समकालीन मनोवैज्ञानिको के सारपूर्ण निष्कर्षों से भी वे भली-भांति अवगत थे, यह उनके भाव-विवेचन को देखते ही स्पष्ट हो जाता है। उस युग के मुख्य मनोवैज्ञानिक है—अलेग्जेंडर बेन, प्रोफेसर स्टाउट, और जेम्स सले। इनके मतों की विवेक-पूर्ण छान-बीन शुक्लजी के निबन्धां मे दिखाई पड़ती है। मानस-शास्त्र मे उनकी अत्यधिक रुचि (और वह भी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था से) यह सिद्ध करती है कि 'भावयोग' का सिद्धान्त उन्होने काव्य-शास्त्रों के समाहार या समन्वय से नहीं निकाला। दूसरे शब्दों में उन्होंने भारत और यूरोप के काव्य-शास्त्रों के समान एवं अनुकूल सिद्धान्तों को एक में गूँथने का उद्योग नहीं किया। बल्कि उद्‌भावक शास्त्र-निर्माता आचार्य की भांति ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं से सामग्री का सचय करके अपनी तल-स्पर्शिणी प्रतिभा द्वारा उसे एक सप्राण साहित्य सिद्धान्त के रूप में विकसित किया। यो तो ऊपर बताए हुए सभी मनोवैज्ञानिको से आचार्य शुक्ल ने प्रेरणा ली थी किन्तु उनके सिद्धान्तो का व्यापक पृष्ठाधार शैंड की "फाउण्डेशन्स ऑफ कैरेक्टर" नामक पुस्तक के मूल्यवान् निष्कर्षों द्वारा ही बन सका। रस के मूल आधार भाव ही माने गये थे अतएव रस-शास्त्र के पुनरीक्षण के लिये भावों के शास्त्रीय विवेचन का आधार ग्रहण करना आवश्यक था। इस दिशा मे जो कार्य १६वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप में हो सका था वह नये सिद्धान्तों के

निर्माण के लिए पर्याप्त था। संयोग की बात यह थी कि रस-शास्त्र मे जिस स्तर पर भावों की मीमांसा हुई थी, मनोविज्ञान में भी उसी स्तर पर हो रही थी। भाव के विषय का बोध, मूल प्रवृत्ति और उसके सर्व प्रत्ययकारी रूप का परिचय किसी सीमा तक भारतीय साहित्य-शास्त्र मे भी उपलब्ध था। शैंड के निरूपण मे भी इन्ही उपादानो की छान-बीन थी। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह थी कि शैंड ने मनोविकारो को ही मानव-चरित्र का आदि निर्माता बताया। सिद्ध हुआ कि भाव के निषेध अथवा दमन द्वारा नहीं बल्कि परिष्कार-संस्कार द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व मे सदाचार का विकास होता है। बुरे भावो की अंतिम परिणति मे ही कदाचार पनपता है। शुक्लजी को सधान मिला कि भावों पर शान चढ़ाकर उन्हें चरित्र-निर्माण के लिये अनुकूल बनाने मे कवि और कविता का अपूर्व योग रहता है। अत कविता मानव-व्यक्तित्व के निर्माण और विकास का अन्यतम साधन है, यह स्थापना हाथ लगी।

शैंड की यह पुस्तक १९१४ ई० मे प्रकाशित हुई थी और, सभवत. उसी समय शुक्लजी ने इसका अध्ययन किया। उन्ही दिनो उनकी मनोविकार-विषयक लेखमाला नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थी। निबन्धों पर विचार करते समय हम यह प्रमाणित करेंगे कि शैंड के निष्कर्षों का उपयोग शुक्लजी ने पूरा-पूरा किया। कई स्थलों पर उन्होने शैंड का ऋण प्रत्यक्षत: स्वीकार भी किया है। मनोविकारों का विवेचन सम्पन्न कर लेने पर ही शुक्लजी प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र मे उतरे। यह बात आकस्मिक कहकर टाली नही जा सकती। जीवन के पहले ३८ वर्षों तक उन्होने अपने आपको साहित्य-समीक्षा से अलग क्यो रखा यह जिज्ञासा स्वभावतः होती है। यहाँ हम ज़ोर देकर कहना चाहेंगे कि उनका भाव-विवेचन न तो कोरा निबन्ध-लेखन है और न मानस-शास्त्र-निरूपण, बल्कि इन दोनो से बढ़कर वह रस-शास्त्र के साथ सम्बन्ध स्थापन ही है।

करुणा, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा आदि मनोविकारो का निरूपण रस-शास्त्र की सैद्धान्तिक मीमांसा का मेरुदण्ड है। उसे सिद्धान्त-निर्माण के अन्तर्गत ही ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में, इन सिद्धान्त-सूत्रों के परिपक्व रूप को लेकर ही शुक्लजी प्रयोगात्मक समीक्षा के क्षेत्र मे अग्रसर होना चाहते थे। इसीलिए हमारा यह विश्वास है कि भावो का नये सिरे से व्याख्यान करके ही उन्होंने 'भावयोग' को साहित्य की प्रामाणिक कसौटी के रूप मे निरूपित किया। यह कार्य केवल दर्शन और काव्य-शास्त्र के अनुशीलन से सम्पन्न नही हो सकता था।

इतना स्पष्ट कर लेने के बाद कि किस प्रकार मनोविश्लेषण की ओर से चलकर शुक्लजी ने अपने मौलिक साहित्य-शास्त्र के निर्माण मे सफलता प्राप्त की, हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि इस शास्त्र का वास्तविक रूप क्या है। शुक्लजी का दृढ-विश्वास है कि काव्यानुशीलन द्वारा सहृदय के मन में भावों का जागरण होता है। जो काव्य मन में किसी भाव को नही जगाता अथवा किसी रमणीय दृश्य या वस्तु की भावना नही उत्पन्न करता वह काव्य कहलाने का अधिकारी ही नही हो सकता। और उनकी यह निश्चित धारणा है कि प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध ही है। इसलिये काव्य के रसास्वादन मे आलम्बन का महत्त्व सर्वाधिक है। पूर्वापर क्रम की दृष्टि से तो इसे सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिये क्योकि जब तक विषय सामने प्रस्तुत नही होगा तब तक मनोगत भाव नही जग सकता; फिर उसकी रस-रूप में परिणति कैसे सभव होगी। कविता मे आलम्बन के ऊपर इतना अधिक बल शुक्लजी इसीलिये देते रहे। 'अज्ञात' के प्रति प्रेम अथवा लालसा की भावना का विरोध उन्होने इसी आधार पर किया। प्रेम मन का एक भाव है जो आलम्बन का स्वरूप स्पष्ट होने पर ही उद्बुद्ध हो सकता है क्योंकि ज्ञान-क्षेत्र के भीतर ही भाव-क्षेत्र का प्रसार सभव है। जो अज्ञात है उसके प्रति जिज्ञासा ही हो सकती है प्रेम अथवा

भक्ति नही। रस को लोकोत्तर न मानकर शुक्लजी ने उसे लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया यह हम पहले ही कह आये हैं। काव्य का सम्बन्ध वे मनोमय कोश से जोड़ते है। उससे ऊपर जाने की आवश्यकता नहीं समझते। इस प्रकार उनकी रस-सम्बन्धी अखण्ड धारणा मनोविज्ञान का पूर्ण पृष्ठाधार पा जाती है। इसी तर्क का आधार लेकर उन्होंने प्रत्यक्ष जीवन व्यापारो मे भी रसानुभूति की संभावना स्वीकार की है। वे प्रत्यक्षानुभूति को विशिष्ट अवस्थाओ मे रसानुभूति-स्वरूप ही मानते हैं। दोनों मे तात्विक अन्तर नही मानते, केवल परिस्थिति-गत भेद स्वीकार करते है। आगे बढ़ने पर, वे यह सिद्ध करते देखे जाते है कि भावो की स्थायी दशा का विधान करके ही काव्य मे शील-निरूपण का आयोजन किया जाता है। यह कार्य रस-सचार से एक कदम आगे का है। इससे एक ओर तो यह प्रमाणित हुआ कि आस्वाद एवं तज्जन्य आनन्द प्रदान करना ही काव्य का अतिम लक्ष्य नहीं हो सकता और दूसरी ओर यह निष्कर्ष निकला कि रस-शास्त्र मे भी नैतिक मूल्यों का सन्निवेश आवश्यक है। संक्षेप मे शुक्लजी के सिद्धान्त व्यवस्थापन की तर्क-प्रणाली यही है। वे 'भाव-योग' की मूल प्रतिज्ञा को शतश· शाखाओं मे विभक्त करके इसी प्रकार सिद्ध करते चले गये। ऊपर हमने कुछ चुनी हुई ऐसी महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञाओ का उल्लेख मात्र किया है इनका कुछ अधिक विस्तृत एव व्यवस्थित परिचय अगले पृष्ठों मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

सबसे पहला प्रश्न है कि साहित्य क्या है? शुक्लजी कहते है—

"साहित्य के अतर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमे अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक व्याख्या हो।"

[चिन्तामणि भाग २ पृ० १७४]

इस परिभाषा में साहित्य की सीमा रेखाये सावधानी और स्पष्टता के साथ अंकित की गई हैं जिसे सामान्यतः साहित्य समझा जाता है उसका (और केवल उसका ही) ही ग्रहण इसमें कर लिया गया है। आलोचक ने 'साहित्य' की धातुगत विवेचना अथवा उसके स्वरूप के भावपूर्ण अतिरंजन द्वारा अपनी परिभाषा का निर्माण नही किया, लेकिन उस युग के अधिकांश लेखक यही कर रहे थे। स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अतिव्याप्ति दोष से भरी हुई परिभाषा दी थी —"ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम ही साहित्य है।" यह वाक्य 'वाङ्मय' शब्द का आभोग निश्चित करता है 'साहित्य' शब्द का नही।

साहित्य के इस स्वरूप को शुक्लजी जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब कहकर देश-काल के अनुसार परिवर्तनशील मानते हैं। उनका मत है :—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।" [हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १]

दूसरा प्रश्न है कि साहित्य का प्रयोजन क्या है? उसके कार्य, उद्देश्य तथा लक्ष्य या प्रयोजन के सम्बन्ध मे शुक्लजी ने अनेक स्थलों पर अपना अभिमत व्यक्त किया है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—"साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखण्ड परम्परा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र रूप की रक्षा करती हुई जगत की गति के अनुरूप उसका अन्तर्विकास करती चलती है।"

[हिन्दुस्तानी का उद्गम, पृ० १]

इस प्रकार साहित्य द्वारा एक ओर तो मानव-जीवन के स्वतन्त्र रूप की रक्षा या मनुष्यत्व की रक्षा और दूसरी ओर बाह्यजगत की

सापेक्षता में मानव के अन्तर्जगत का विकास अर्थात् शेष सृष्टि के साथ मनुष्य की चित्तवृत्तियों का सामंजस्य होता चलता है। कहने की आवश्यकता नही कि प्राचीन रसवाद के अन्तर्गत भी ये व्यापक प्रयोजन किसी-न-किसी रूप में समाविष्ट थे । ध्यान देने की बात है कि साहित्य के स्वरूप-विवेचन मे भी 'भाव-योग' की मूल स्थापना का विचार रखा गया है ।

'साहित्य' के इस स्वरूप एवं प्रयोजन के आधार पर कविता, नाटक उपन्यास, कहानी आदि विधाओं की मीमांसा हो सकती है किन्तु शुक्लजी ने इन पर, अलग विचार भी किया है । आगे उनके इन विचारों के संकलन एव समीक्षरा का उपक्रम किया जा रहा है ।

कविता—कविता क्या है ? उन का कहना है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती हैं उसी प्रकार हृदय की (यह) मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।" [चिन्तामरिण भाग १, पृ० १४१]

इसका तात्पर्य यह है कि शब्दों की वह योजना ही काव्य कहला सकती है जो हृदय मे भाव को जाग्रत करके उसे रस-दशा की ओर अग्रसर कर सकें। अवश्य ही, 'हृदय की मुक्तावस्था, ज्ञानियों के 'मोक्ष' से नितान्त भिन्न है। शुक्लजी की दृष्टि से, 'व्यक्ति हृदय' का 'लोक-हृदय' मे लीन हो जाना ही 'मोक्ष' है। कविता पढ़ते या नाटक देखते समय जब हम विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त करने लगते हैं तब व्यक्तिगत योग-क्षेम की भावना हमसे दूर चली जाती है, हमारा हृदय सम्पूर्ण जनसमुदाय के हृदय के साथ एकाकार होने लगता है। सब के हृदय में लगभग एक ही भाव उद्बुद्ध हो जाता है। ऐसे अवसर पर जिस रस-दशा में हम पहुँचे रहते हैं उसे शुक्लजी ने 'मुक्तावस्था' कहा। अन्यत्र, उन्होने प्रत्यक्ष

जीवन में भी इस दशा की, विशेष अवसरों पर, उपस्थिति स्वीकार की है। जब किसी लोकोपकारी व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य में संलग्न देखकर हम उसके प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता आदि कोमल भावों से भर उठते हैं, अथवा किसी अत्याचारी को किसी दीन-हीन मानव पर अत्याचार करते देख, क्षुद्र-सकुचित स्वार्थों से ऊपर उठते हुए क्रोध से तिलमिलाने लगते है तब भी हमारा हृदय मुक्तावस्था मे पहुँच जाता है, किन्तु यहाँ साधन रूप मे वाणी-विधान न होने के कारण कविता नही होती। यह ध्यान देने की बात है कि शुक्लजी शब्द-विधान अर्थात् उक्ति को ही काव्य कहते है। उन्होंने अन्यत्र भी कहा है—

"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक व्यंजना में लीन कर दे वह तो है काव्य।" इससे स्पष्ट है कि भाव जगाने की कुछ-न-कुछ क्षमता काव्य में अवश्य होनी चाहिये। अब जिज्ञासा होगी कि काव्य का प्रयोजन क्या है। शुक्लजी की दृष्टि मे 'आनन्द' को अन्तिम प्रयोजन के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता। वे उच्चतर लक्ष्य का आग्रह करते है। आनन्दवादियों से मतभेद प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है—

"कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पण्डितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा यूरोपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही 'अंतिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बडझाला हुआ।"

[चिन्तामणि भाग १, पृ० १६३]

कविता का उच्चतर लक्ष्य निरूपित करते हुए वे कहते है :—

"हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतःप्रकृति

का समंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।" [चिन्तामणि भाग १, पृ० १४६]

ऐसे प्रयोजन को सामने रखने से व्यक्ति-हृदय का लोक-हृदय में विलीनीकरण संभव होगा। हृदय का 'मोक्ष' तभी होगा। काव्य द्वारा मनुष्य-मात्र को कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा इसी मोक्ष के साथ मिलती है। ऐसा कर्म भी स्वार्थमुक्त होता है। शुक्लजी की दृष्टि से "मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करने वाली मूलवृत्ति भावात्मिका है।" इस मान्यता के कारण ही भावयोग का सिद्धान्त इस शास्त्र की रूढ सीमाओं से आगे बढ़ा हुआ लगता है।

काव्य का विषय क्या है? क्या कविता सभी विषयों पर लिखी जा सकती है या केवल कुछ चुने हुए विषयों पर ही? शुक्लजी का कहना है कि इसकी कोई निश्चित मर्यादा नही बनाई जा सकती। इतिहास, दर्शन और विज्ञान के गूढ तत्त्वों तक को लेकर सुन्दर काव्य का निर्माण हो सकता है और हुआ भी है। 'भाव या चमत्कार से समन्वित होकर' ये सभी 'काव्य के आधार हो सकते हैं।' पर एक बात लक्ष्य करने की है कि सभी विषयों में भावोद्बोधन की एक-सी योग्यता नही होती। जिन विषयो के साथ हमारा परम्परागत साहचर्य होगा और जो विषय हमारे संस्कारो के अधिक निकट होंगे उनमे, रमाने की शक्ति, उन विपयों से कही अधिक होगी जिनसे हमारा परिचय अपेक्षाकृत नया और मात्र बौद्धिक है। शुक्लजी का कहना है—"साहचर्य-संभूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यो मे कितने माधुर्य की अनुभूति होती है!"

कवि मे किन गुणो और शक्तियों का होना आवश्यक है? आचार्य शुक्ल का अभिमत है—"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के

सामान्य हृदय को देख सके।" जिस कवि को यह दृष्टि प्राप्त होगी वही अपने काव्य मे लोक-सामान्य अनुभूतियों की व्यंजना कर सकता है। काव्य-कर्त्ता का दूसरा गुण यह है कि वह स्वयं को विभिन्न परिस्थितियो में डालकर जीवन और जगत् का वैविध्यपूर्ण अनुभव प्राप्त करे और इस प्रकार अधिकाधिक विषयों अथवा आलंबनों तक अपनी भावात्मक सत्ता का प्रसार कर ले। शुक्लजी ने अन्यत्र कहा है—

"प्राप्त-प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अंतःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।"

[गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १]

इस प्रकार कवि के भीतर व्यापक अनुभूतिशीलता और शेष सृष्टि तथा लोक-हृदय के साथ लगाव होना आवश्यक है। सच्चे कवि को वे 'अनुभूति योगी' मानते हैं।

काव्य का सच्चा अधिकारी कौन है ? काव्य मे रमाने की शक्ति होती है ऐसा मान लेने के बाद काव्य के पाठक मे भी रमने की शक्ति का मानना अनिवार्य है। कवि की भाँति पाठक में भी सहृदयता होनी आवश्यक है अन्यथा वह आस्वाद्य रस का अनुभव नही कर सकता। किसी मार्मिक प्रसंग मे तल्लीन होने की क्षमता उसका प्रधान गुण है; और तल्लीन होने की अवस्था मे वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता का परिहार कर देता है। उसका हृदय लोक-हृदय मे लीन हो जाता है। यही शुक्लजी का पक्ष है।

काव्य-मर्म को न ग्रहण कर सकने वाले अनधिकारियो को लक्ष्य करके उन्होने कहा है—

"अनूठी बात सुनने की उत्कंठा रखने वाले जब काव्य-रसिक समझे जाने लगे तब अन्य रसों के प्रवाह को दबाकर अद्भुत रस सब के ऊपर उछलने लगा······।" [चिन्तामणि भाग २, पृ०—६]

'महफिली दाद' की निन्दा करते हुए उन्होने अन्यत्र कहा—

"इसी प्रकार बात-बात में अहाहा ! कैसा मनोहर है ! कैसा आल्हादजनक है ! जैसे भावोद्गार भी भद्देपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध हैं।" [चिन्तामणि भाग २, पृ० १९]

पाठक मे ग्राहिका-कल्पना का होना शुक्लजी आवश्यक समझते है। वही व्यंजित वस्तु को मन में साकार करने का मुख्य साधन है।

काव्य के रचनात्मक उपादान क्या हैं?

रस को ही शुक्लजी काव्य का मुख्य तत्त्व मानते है अतः उसके विधायक एवं साधक तत्त्व ही काव्य के भी विधायक माने जायेगे। इन उपादानो में भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी-भाव के अतिरिक्त कल्पना, भाषा, अलंकार, रीति, छन्द आदि भी परिगणनीय है। आगे हम उन धारणाओं का अध्ययन करेंगे जो इन तत्त्वो के सम्बन्ध में शुक्लजी ने व्यक्त की है।

भाव—'भाव' शब्द की परिभाषा देते हुए उन्होंने रस-मीमांसा में लिखा है कि "प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ सश्लेष का नाम 'भाव' है।" अन्यत्र, उसके तीन अगो को विश्लिष्ट करते हुए उन्होने लिखा है—

"भाव का विश्लेषण करने पर उसके भीतर तीन अग पाये जाते हैं:—

(१) वह जो प्रवृत्ति या संस्कार रूप में अंतस्संज्ञा में रहता है। [वासना]

(इसे Instinct कहते है)

(२) वह अग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है। (भाव; आलम्बन आदि की भावना)

(३) वह अग जो आकृति आचरण आदि में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है। [अनुभाव और नाना प्रयत्न]

भाव के उक्त तीनो अंगो का बँटवारा पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने किया था और इसमे कोई सदेह नही कि शुक्लजी ने उनके निष्कर्ष को ही निस्संकोच भाव से अपनी विवेचना मे ग्रहण कर लिया। प्रमाण-स्वरूप यहाँ शैंड की पुस्तक का निम्नाकित वाक्य उद्धृत है—

"Thus the three distinguishable parts of the system of the emotion, the emotion itself, the process connected with it in the organism, and its outward expression and modes of behaviour, all belong together and form one system."

अर्थात् भाव-पद्धति के तीन अवयव—(१) मूल मनोविकार, (२) उसकी आतरिक प्रक्रिया, और (३) उसकी बाह्य अभिव्यक्ति—परस्पर संघटित होकर एक अखंड भाव-कोश का निर्माण करते हैं।

भाव की अपनी परिभाषा मे आचार्य शुक्ल ने इन्ही तीनों तत्त्वों का सम्मिश्रण कर लिया है।

विभाव—आचार्य शुक्ल कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष—ठहराते हुए कहते है कि "काव्य में विभाव ही मुख्य है। भावो के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम है।" हम यह जानते है कि वे भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध को मानते हैं और ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार की स्थापना करते है। जब तक हमारे सामने विषय-रूप कोई कारण नही प्रस्तुत होगा तब तक भाव का अनुभव नही हो सकता। इसी प्राथमिकता और कारणता को लक्ष्य कर वे भाव से अधिक महत्त्व विभाव को देते हैं। दूसरी बात यह भी है कि उनकी दृष्टि मे जहाँ काव्य मे केवल एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा अव्यक्त रूप मे रहता है और उसका आक्षेप द्वारा

ग्रहण हो जाया करता है। यहाँ वे पंडितराज जगन्नाथ से सहमत हैं। इसीलिये शुक्लजी विभाव को व्यंग्य नहीं मानते। उन्होंने कहा है—"यदि कहिये कि यहाँ अलंकार द्वारा उक्त दृश्य-रूप वस्तु व्यंग्य है तो भी ठीक नहीं क्योंकि विभाव व्यंग्य नहीं हुआ करता।" जहाँ विभाव या वस्तु की प्रत्यक्ष व्यंजना हुई रहती है वहाँ भी शुक्लजी उसका ग्रहण शब्द की अभिधा-शक्ति और अनुमान द्वारा ही मानते है, व्यंजना द्वारा नही। इससे स्पष्ट है कि वे विभाव को प्रत्येक दशा मे अनुमान-गम्य और आक्षिप्त ही मानते हैं।

विभाव-पक्ष के व्यापक और सम्पूर्ण चित्रण के लिए ही कल्पना का उपयोग वे उचित समझते हैं—कल्पना उस व्यापक क्षेत्र में मुक्त भाव से विचरण कर सकती है। बात यह है कि विभावन व्यापार द्वारा वर्ण्य विषयों का मूर्त्त-प्रत्यक्षीकरण काव्य मे आवश्यक है और यह कार्य-कल्पना की सहायता से ही सिद्ध हो सकता है। इसीलिये उन्होंने कहा है, "काव्य में विभाव को मुख्य समझना चाहिये—रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य क्षेत्र है।" लेकिन इस क्षेत्र मे कल्पना की मर्यादा बाँधना आवश्यक समझते हुए वे कह देते हैं कि वह उच्छृंखल होकर जिधर-तिधर नहीं उड़ सकती; 'उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है।'

उनके अनुसार विभाव के अंतर्गत दो पक्ष होते है—(१) आलम्बन (भाव का विषय), (२) आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला)। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि प्राचीन साहित्य-शास्त्र की रस-मीमांसा मे विषयी और विषय का भेद बराबर रखा जाता रहा तथापि तद्विषयक ग्रन्थों मे आलंबन के ही अंतर्गत दोनों का विवेचन होता रहा। 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' तक में यही पद्धति अपनाई गई—आश्रय का अलग उल्लेख इनमें नही मिलता। इनके आधार पर रचित 'रस-

मंजरी' (श्री कन्हैयालाल पोद्दार) के हिन्दी लक्षण-ग्रन्थ में भी इनका अलग-अलग विवेचन नही है। शुक्लजी ने हिन्दी मे इनका अलग-अलग उल्लेख और विवेचन करके साधारण पाठको के लिये विषय को अधिक सुगम बना दिया— अनुभाव', 'उद्दीपन' आदि के सम्बन्धी कौन हैं यह बात प्रत्यक्ष हो गई। आश्रय की चेष्टाये अनुभावों और आलम्बन की चेष्टाये 'उद्दीपनो' के रूप मे सरलता से वर्गीकृत हो गई।

उक्त दोनो तत्त्वो मे भी शुक्लजी आलंबन को ही प्रधान मानते हैं और कहते है कि "जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना कार्य कर चुका।" उनके अनुसार काव्य मे मात्र आलम्बन के विशद वर्णन से भी श्रोता या पाठक मे रसानुभव (भावानुभव ही सही) हो जाता है। इसीलिये उनका विश्वास है कि यदि 'मेघदूत' में से यक्ष की कथा निकाल ली जाय तो भी 'पूर्वमेघ' मे आये हुए प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन मे निहित काव्यत्व नष्ट नही हो सकता। आलम्बन के ऊपर इतना अधिक बल उन्होने अपनी वस्तून्मुखी दृष्टि के कारण दिया है और इसीलिये यह उनकी सम्पूर्ण साहित्यिक विचारणा का एक प्रधान मूल-सूत्र बन गया है।

अनुभाव—तुलसी की भावुकता पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने प्रासंगिक रूप से अनुभाव के सम्बन्ध मे भी एक बात कह दी है जिसका उल्लेख इस प्रसंग मे आवश्यक है। वे 'अनुभाव' के अंतर्गत केवल आश्रय की चेष्टाये ही ग्रहण करते है क्योंकि 'आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी मनोगत भाव की व्यंजना करना होता है। आलम्बन की चेष्टाओ को वे 'हाव' के अंतर्गत रखना उचित समझते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य आलम्बन के सौन्दर्य की वृद्धि करना मात्र होता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर भाव-व्यंजक चेष्टाएँ आश्रय की ही हो सकती है। यदि आलम्बन भी कोई सजीव प्राणी है और उसमे भी

मनोगत भाव के व्यजक विकार लक्षित होते है, तो जहाँ तक वे आलम्बन के सौन्दर्य के उपकारक हैं वहाँ तक वे उद्दीपन माने जायेगे और जहाँ तक भाव की व्यंजना करते हैं वहाँ तक अनुभाव। जैसा पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'वांगमय-विमर्श' नामक ग्रन्थ मे सिद्ध किया है, इस तथ्य का उद्‌घाटन भानुदत्त ने अपनी 'रस-तरंगिणी' मे कर दिया था। भानुदत्त ने 'अनुभाव' का लक्षण देते हुए कहा कि जिनसे रस अनुभव-गोचरता को प्राप्त होते है वे कटाक्षादि 'अनुभाव' हैं, वे कारण-स्वरूप या साधन-स्वरूप है और आगे चलकर कहा है कि कटाक्षादि कारण-स्वरूप होने से अनुभाव और विषय रूप होने से उद्दीपन विभाव हो जाते हैं। देखने से स्पष्ट होगा कि भानुदत्त का विवेचन तात्त्विक है। इसके विपरीत शुक्लजी के विवेचन में यह मानकर चला गया है कि 'हाव' का विधान नायिका का मोहक स्वरूप बढ़ाने के लिए ही किया जाता है। लेकिन ऐसे प्रकरण भी तो आ सकते हैं, और आते हैं, जहाँ वे शारीरिक विकार, एक ओर तो नायिका के मनोगत भाव की व्यजना करते हो और दूसरी ओर उसके रूप मे मोहकता भी उत्पन्न कर देते हो। ऐसी स्थिति मे दोनो दृष्टियो से उनके ऊपर विचार करना आवश्यक है।

संचारी भाव—शुक्लजी ने भावो के विभाजन का मूल आधार ढूँढ़ते हुए बताया कि "जो भाव ऐसे है जिन्हे किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावो का सा अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों मे रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग सचारियो मे डाले गये हैं।" आधार का यह अनुसन्धान शुक्लजी की दृष्टि की मौलिकता का परिचायक है। उन्होने 'लज्जा', 'असूया' आदि सचारियो का उदाहरण लेकर यह सिद्ध किया है कि आश्रय के मन मे उन भावो का उदय होने से दर्शको के मन मे भी नही हो जाता—अत. ये भाव संक्रामक नही है और इसीलिए प्रधान भावो की कोटि मे नही डाले गये।

दूसरी बात यह है कि साहित्य-शास्त्र की स्थायी संचारी-व्यवस्था को वे मनोविज्ञानियों की भाव-चक्र (Sentiments) और भाव (Emotions) वाली व्यवस्था से भिन्न मानते हैं। भिन्नता का आधार उन्होंने यह स्थापित किया है कि भाव-चक्रों के बीच जगने वाले विरोधी भावों के उत्कर्ष-क्षण में मूल प्रवर्त्तक-भाव (Sentiment) अपना रूप विसर्जित कर देता है किन्तु स्थायी-भाव का रूप संचारियों के जागरण-काल में ज्यों-का-त्यों बना रहता है, बल्कि संचारी की योजना से स्थायी-भाव और अधिक पुष्ट ही होता है। भेद के इस मूल आधार की उद्भावना शुक्लजी की अपनी है।

तीसरी बात है संचारियों की संख्या। शुक्लजी का विश्वास है कि संचारी असंख्य हैं, उनकी कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

चौथी बात है संचारियों का वर्गीकरण। आचार्य शुक्ल ने विरोध-अविरोध की दृष्टि से संचारियों के चार रूप बताये—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन। स्वरूप की दृष्टि से संचारियों के उन्होंने पाँच प्रकार माने हैं—स्वतन्त्र विषययुक्त भाव, मन के वेग, अन्तःकरणवृत्ति, मानसिक अवस्था, शारीरिक अवस्था। इस वर्गीकरण में भी शुक्लजी की मौलिक दृष्टि का ही प्रकाश अधिक है।

पाँचवीं बात किसी प्रधान भाव का दूसरे प्रधान भाव के संचारी के रूप में आना। ऐसी स्थिति शुक्लजी के विचार से तभी उत्पन्न हो सकती है जब—

(१) "उसका (भाव) विषय वही है जो प्रधान भाव का आलम्बन है और उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो।"

(२) आलम्बन से उसका विषय भिन्न हो, उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो, और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपान्तर लगा रहता हो।

रस

'हृदय की मुक्तावस्था' को शुक्लजी रस-दशा कहते हैं, यह हम देख चुके हैं। 'मुक्त' का अर्थ है व्यक्ति-बद्ध दशा से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर जा पहुँचना। यही है व्यक्ति-हृदय का लोक-हृदय मे तल्लीन हो जाना। रस उस तल्लीनता की स्थिति और अनुभूति का नाम है। यह धारणा रस-सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओ से अलग है।

रस की कोटियाँ :

शुक्लजी रस मे कोटि-क्रम स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जब पाठक अथवा 'सहृदय' काव्यगत आश्रय के साथ तादात्म्य कर लेते हैं तब उत्तम-कोटि की और जब नही कर पाते (केवल कवि के साथ ही तादात्म्य कर पाते हैं) तब मध्यम-कोटि की रसानुभूति होती है। उदाहरण लेकर उन्होने कहा है—

"कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रासात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा मे आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम-कोटि की ही मानेंगे।" [—चिन्तामणि भाग १, पृ० २३१]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट है कि शुक्लजी ने, सिद्धान्त की नहीं, व्यवहार की समस्या उठाई है। सिद्धान्त रूप मे रस का स्वरूप चाहे जो रहा हो, किन्तु इस व्यावहारिक समस्या का समाधान उससे नही हो सकता था। शास्त्रों में ऐसी स्थितियो को 'भाव' अथवा 'रसाभास' कह-कर छोड दिया गया था। आधुनिक विद्वानों ने भी शुक्लजी की स्थापना का विरोध किया लेकिन वे कोई नया तर्क दे सके हैं, इसमे सन्देह है।

'रस' की इस अवस्था का आविष्कार आचार्य शुक्ल ने नीतिवादिता के आग्रह से मनोविज्ञान का आधार लेकर किया। 'मनोवेग-वर्जित' सदाचार को वे दम्भ मानते थे, यह हम देख चुके है। शैंड ने भी इसी नीतिमूलक मनोविज्ञान का ही निर्माण किया था। मानस-शास्त्र और नीतिवादिता के इस अविच्छिन्न रूप को लेकर शुक्लजी जब रस की उस स्थिति के निकट पहुँचे तो उनकी सूक्ष्म-ग्राहिणी वृत्ति ने नयी सम्भावना को तुरन्त पकड लिया। यह पकड़ उनके चिन्तन की मौलिकता का प्रमाण है।

शुक्लजी के उक्त मत की समीक्षा करते हुए हमारा विचारणीय प्रश्न यह नही होना चाहिये कि वह 'रसवाद' की रूढ सीमाओ के भीतर आता है अथवा नही. बल्कि हमे यह देखना चाहिए कि उन्होने जिस तथ्य का उद्भावन किया, उसमे सचाई कितनी है। अपने रसवाद को व्यापक बनाने की यही पद्धति हो सकती है।

रस की अलौकिकता :

'रस' का सम्बन्ध मनोमय कोश मे जोड़ने के कारण शुक्लजी उसकी अनुभूति को लौकिक मानते है। इसीलिए वे विशिष्ट अवस्थाओ मे, प्रत्यक्षानुभूति को भी रसात्मक करके ग्रहण करते हैं। प्राचीनो ने रस को 'अलौकिक', 'ब्रह्मानन्द सहोदर' आदि कहा वह केवल 'अर्थवाद' के रूप मे ही था, ऐसा उनका दृढ-विश्वास है। इस प्रकार 'अलौकिक' एक औपचारिक विशेषण-मात्र ठहरता है।

कल्पना—भावानुभव के लिए विषय का सामने आना अनिवार्य है क्योंकि विषय-बोध ही भाव का प्रथम अवयव है। इन विषयो की योजना मे ही कल्पना साधन-स्वरूपा है, वह स्वयं साध्य नही। शुक्लजी का यही पक्ष है। उन्होने कहा है कि "जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार और भावो के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। कल्पना के बिना भाव का

प्रवर्त्तन असम्भव है। शुक्लजी ने 'भावना' और 'कल्पना' का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। उनकी धारणा है कि भारतीय साहित्य-शास्त्री जिस क्रिया या शक्ति को 'भावना' शब्द से अभिहित करते हैं, उसी को आजकल के लोग 'कल्पना' कहते हैं।

पश्चिमी काव्य-शास्त्र में कल्पना का बड़ा विशद विवेचन कॉलरिज ने किया और उसके अनन्तर उस पर लगातार विचार-विमर्श होता चला आया है। इसलिए वहाँ की समीक्षा में इसका महत्त्व बढ़ गया और परिणामस्वरूप 'ऊँची-कल्पना' के नाम पर काव्य मे अनेक विलक्षण और असवद्ध चित्रों की भरमार होने लगी। शुक्लजी कल्पना को उस सीमा तक ले जाना अनुचित समझते हैं और उसकी निश्चित मर्यादा बांधते हुए कहते हैं—"किसी प्रसंग के अन्तर्गत कैसा ही विचित्र मूर्त्ति-विधान हो (कल्पना के द्वारा लाया हुआ) पर यदि उसमे उपयुक्त भाव-संचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अन्तर्गत न होगा।"

शुक्लजी ने कल्पना के दो रूप माने हैं—विधायक और ग्राहक। कवि के लिए विधायिका-कल्पना की आवश्यकता मानते हुए वे पाठक या श्रोता के लिए 'अधिकतर' ग्राहिका-कल्पना का होना ही पर्याप्त समझते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि कवि मे कल्पना के दोनो प्रकार क्यो न माने जाएँ। कवि कल्पना द्वारा ही बाह्य-जगत् के पदार्थों के रूप-चित्र अपने मस्तिष्क मे उतार पाता है और फिर उसकी विधायिका-शक्ति द्वारा पाठको के समक्ष उन्हे मूर्त्तिमान कर देता है। वास्तव मे पाठक के भीतर जिस ग्राहिका-कल्पना को शुक्लजी स्थान देते है और उसके द्वारा उनके अन्तःकरण में जैसे स्पष्ट मूर्त्ति-विधान उत्पन्न होने की बात कहते हैं, वही कल्पना और वही मूर्त्ति-विधान पाठक से पहले कवि मे भी अपेक्षित है।

कल्पना को 'भावना' या 'उपासना' के समकक्ष मानने मे भी कठिनाई इन्ही दोनों प्रकारो के कारण आती है—'ग्राहिका-कल्पना' तो

'भावना' या 'उपासना' के अत्यन्त निकट है और इन तीनो मे साम्य है—क्योंकि तीनो मे अपने अन्तःकरण के समक्ष किसी अन्य तत्त्व का मूर्त्ति-विधान होता है किन्तु विधायक कल्पना दूसरो के समक्ष मूर्त्ति-विधान करने मे विनियुक्त होती है, वह कवि द्वारा गृहीत मूर्त्ति-विधान को औरो के द्वारा ग्राह्य बनाने का एक अनिवार्य साधन है। ऐसी अवस्था में उसे 'भावना' या 'उपासना' के समकक्ष रखना ठीक नहीं जान पड़ता।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में, कल्पना के ऊपर सबसे गम्भीर और मौलिक विचारणा कॉलरिज की मानी जाती है। उन्होने भी पूर्वापर क्रम को लक्ष्य करते हुए कल्पना के दो प्रकार माने हैं—प्रधान (Primary) और गौण (Secondary)। प्रधान-कल्पना को वे एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो समस्त मानव बोध का मूल है और मस्तिष्क मे मूर्त्ति-विधान भी करती रहती है। और गौण-कल्पना इस प्रधान-कल्पना की ही अनुगूँज होने के कारण उससे तात्त्विक रूप मे अभिन्न है, दोनो में केवल मात्रा-भेद है। गौण-कल्पना संकल्प के साथ रहती है और सर्जना के लिये ही स्वय को विसर्जित कर देती है। कहने की आवश्यकता नही कि पहली को ही शुक्लजी ने ग्राहिका-कल्पना माना और दूसरी को विधायिका, किन्तु वे कल्पना को भावों के लिये विषय प्रस्तुत करने वाले साधन के ही रूप मे ही देखते है; किसी अन्य रूप मे नही।

भारतीय साहित्य-शास्त्र का 'प्रतिभा' शब्द विधायक-कल्पना के अधिक निकट है, सम्भवतः इसीलिए शुक्लजी ने कही-कही 'कल्पना या प्रतिभा' जैसा प्रयोग भी किया है—

जहाँ तक कल्पना के विनियोग का प्रश्न है शुक्लजी उसे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो पक्षो मे रखने के पक्षपाती है—वे इस धारणा का खण्डन करते है कि कल्पना का प्रयोग केवल अप्रस्तुत पक्ष की सामग्री एकत्र करने मे होना चाहिए। "यहाँ मेरा अभिप्राय केवल इस धारणा को

असंगत सिद्ध करने का है कि काव्य में कविता या कल्पना का काम केवल ढूँढ़-ढूँढ़कर, या अपनी अन्तरात्मा में से निकालकर, तरह-तरह के अप्रस्तुत रूपों का विधान करना ही है।"

भाषा—साहित्य के भीतर शुक्लजी ने दो अभिन्न परम्पराएँ मानी हैं—एक शब्द की और दूसरी अर्थ की। उनका कहना है कि "किसी देश की शब्द-परम्परा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चलकर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है।" शब्द और अर्थ की इन दीर्घ-कालीन परम्पराओं मे ऐसा एकान्त सामंजस्य है कि, किसी भी प्रकार से, उसे विघटित करना सम्भव नही; यदि विघटन हुआ तो साहित्य और भाषा का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। अतः भाषा के प्रयोग में कवियो को अत्यधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है।

अपने "कविता क्या है?" शीर्षक लेख मे उन्होने काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनमे सबसे पहला स्थान लाक्षणिकता को मिला है। उनका कहना है कि कविता हमारे समक्ष सूक्ष्म पदार्थों और व्यापारों को भी गोचर रूप मे रखती है; स्थूल रूप मे प्रत्यक्ष करती है और इसके लिए भाषा की लक्षणा-शक्ति का आश्रय लेना आवश्यक होता है। अतः जिस भाषा मे लक्षणा-शक्ति की जितनी ही अधिक प्रबलता होगी उसमें जगत् के रूपो और व्यापारों के गोचर प्रत्यक्षीकरण की क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी और इसके परिणाम-स्वरूप उच्चकोटि के काव्य की सम्भावनाएँ भी उसमें अधिक होगी। "वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।"

दूसरी विशेषता उन्होंने यह लक्षित की कि काव्य-भाषा मे "जाति-सकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते

हैं ।" जिस प्रकार अनेक व्यापारो के बीच में से उपलक्षण पद्धति पर, केवल कुछ का ही चुनाव करके कविगण सारे व्यापारों का समन्वित चित्र खडा कर देते है, उसी प्रकार शब्द-समूहो मे से वे केवल उनका चुनाव कर लेते है जो विशेप-विशेष रूपों और व्यापारो के सूचक है और पदार्थो या क्रियाओं का गोचर रूप हमारे समक्ष रख सकते है । यह गुण मूलत व्यापार-शोधन का ही अग है जो कवि-कर्म का एक प्रमुख अवयव है, किन्तु इसके परिणामस्वरूप काव्य-भापा मे वह वैशिष्ट्य अवश्य उत्पन्न हो जाता है जिसकी ओर शुक्लजी ने हमारा ध्यान आकर्पित किया है। इसी वैशिष्ट्य के आधार पर शास्त्र की भापा को शुक्लजी ने काव्य की भापा से अलग किया है—एक जाति-संकेत मूलक शब्दों से भरी होती है और दूसरी व्यक्ति-सकेत मूलक ।

काव्य-भापा की तीसरी विशेपता उन्होंने नाद-सौष्ठव मे देखी है और यह कहा है कि "(कविता) नाद-सौष्ठव के लिये संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है ।" भारतीय काव्य-शास्त्र की प्राचीन परम्परा मे ही वर्णो की कोमलता-कठोरता और विभिन्न वृत्तियो का विचार इसी मूल तत्त्व को ध्यान में रखकर किया गया । विचार करते समय इस वात पर वरावर ध्यान रहा कि भाव को अधिक तीव्रता और पुष्टता प्रदान करने के लिये वर्णो का यह सूक्ष्म भेद अपनाया जाना चाहिये । केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिये नही; किन्तु आगे चलकर आचार्यो का वह मूल आधार या उद्देश्य भुला दिया गया और "जो वात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिये थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खडा करने लिये काम में लाई गई ।" नाद-सौन्दर्य मे इस दुरुपयोग को देखकर शुक्लजी कुछ खिन्न अवश्य हुए लेकिन वे उन लोगों की श्रेणी मे नही जा बैठे जो कविता के लिए इसकी किंचित् आवश्यकता ही नही समझते । उनका यह विश्वास था कि स्थूल रूप में न हो तो न सही किन्तु सूक्ष्म रूप में तो उसे काव्य-भाषा मे अवश्य सन्निविष्ट करना होगा । उन्होंने कहा "जो अन्त्यानुप्रास को फालतू

समझते हैं वे छन्द को पकड़े रहते हैं, जो छन्द को फालतू समझते है वे लय मे ही लीन होने का प्रयास करते हैं।"

काव्य-भाषा की चौथी विशेषता उन्होने व्यक्तियो या स्थानो के रूप-गुण-बोधक शब्दो के प्रयोग मे देखी है। जैसे 'गिरिधर', 'दीनबन्धु' आदि शब्दों का प्रसगानुकूल साभिप्राय प्रयोग। ध्यान से देखने पर ज्ञात हो जायेगा कि यह विशेषता पहले ही से मानी जाती रही है और 'परिकरांकुर' नाम के अलंकार के रूप में हमारे अलंकार शास्त्र मे सर्वत्र स्वीकृत है।

अलंकार—काव्य में अलंकार का स्वरूप और उसकी प्रयोजनीयता क्या है, इस प्रश्न के ऊपर शुक्लजी ने अपने विभिन्न निबन्धों में बड़ी गंभीरता से विचार किया है। उनकी दृष्टि में अलंकार वर्णन-प्रणाली-मात्र हैं, उन्हे काव्य-रस के साधक अवयव के रूप मे ही ग्रहण करना युक्ति-संगत है। काव्य के साध्य अथवा उद्देश्य के रूप मे अलंकारों का निरूपण नही हो सकता। उन्होने कहा कि "भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति का नाम अलंकार है।" 'कभी-कभी' कहने का साफ अर्थ यही है कि वे सदैव काव्य को अलंकृत रूप में ही नही देखना चाहते और इसलिये 'चन्द्रालोककार' के इस कथन पर व्यंग्य करते है कि जो लोग काव्य को अलंकार-विहीन मानते है वे आग को 'अनुष्णतासम्पन्न' क्यों नही मानते। काव्य और अलंकार का शाश्वत सम्बन्ध उन्हें मान्य नही।

अलंकार के इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर उन्होने कहा है कि वह "कथन की एक युक्ति का वर्णन शैली-मात्र है।" लेकिन इस वर्णन-शैली का प्रयोग शास्त्र, इतिहास आदि के विवेचनापूर्ण ग्रन्थों में भी हो सकता है, और प्रायः हुआ है; अतः काव्यालकार की अलग श्रेणी का निर्धारण करने के लिये शुक्लजी को इतना और कहना पड़ा कि यदि युक्ति या

वर्णन शैली केवल विषय-बोध के लिये विनियुक्त हो और उससे भाव के उत्कर्ष का कोई साधन न होता हो, तो उसे काव्यालंकार की कोटि में नही ले सकते।

अलंकारों की उत्पत्ति कैसे हुई ? सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न विचारको अथवा आचार्यों ने काव्य के चुने हुए सुन्दर प्रसंगो की रमणीयता के मूल कारणों का अनुसन्धान करना प्रारम्भ किया, और जो कारण कथन या वर्णन की शैली से सम्बन्ध रखने वाले मिले उनका नामकरण करके, उन्हे अलंकारों की सूची मे डालते चले गये—वे ही अलकार कहे जाते है। वर्णन की ये प्रणालियाँ या शैलियाँ असंख्य हैं, इनकी कोई सीमा नही। अतः अलंकारों की भी कोई निर्दिष्ट सीमा नही निर्धारित की जा सकती।

अपनी इस मान्यता के अनुरूप ही शुक्लजी अलंकार पौर अलंकार्य के अभेदत्व का निराकरण करते है, इन दोनों के एक माने जाने को उन्होने 'गड़बड़झाला' कहा है जो बहुत पहले मिट चुका। "प्राचीन गड़बड़-झाला मिटे बहुत दिन हो गये। वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक-दूसरे से अलग कर दी गई हैं।" ऐसा होने के कारण ही स्वभावोक्ति का अलंकारत्व प्रसिद्ध है। जिन आचार्यो ने स्वभावोक्ति को अलंकार के अन्तर्गत माना वे भी उसका लक्षण-निरूपण ठीक-ठीक नहीं कर सके। शुक्लजी की स्थापना है कि "प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीट कर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नही ले जा सकते।" इस प्रश्न पर उनका कुन्तक के साथ मतैक्य है, जो स्वयं स्वभावोक्ति को अलंकार नही मानते और कहते है कि "शरीर ही यदि (स्वभावोक्ति) नामक अलंकार हो जाय तो वह (स्वभावोक्ति अलंकार) दूसरे किस (अलंकार्य) को अलंकृत करेगा। ···कोई स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है।"

'स्वभावोक्ति' को अलंकारों के अन्तर्गत गिना कब गया ? शुक्लजी के मत से, उस समय जब 'रीति-ग्रन्थों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो गई' जब तक कविगण स्वतन्त्र रूप से बिना किसी निर्धारित रूढ़ि का आश्रय लिये, भावों की उत्तेजना के लिये आलम्बन जुटाते रहे तब तक स्वभावोक्ति को अलंकार के अन्तर्गत रखने की आवश्यकता नही पड़ी, किन्तु जब आलम्बनों का स्वरूप निर्दिष्ट होने लगा और लक्षण-ग्रन्थो में उनकी वर्गीकृत सूची तैयार की जाने लगी तब रस के "संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' मे डाल दिये गये और कुछ भाव-क्षेत्र से ही निकाले जाकर अलंकार के हाते में हाँक दिये गये।"

काव्य में प्रयुक्त होने वाले सादृश्य मूलक अलंकारों की अधिकता और सार्थकता देखकर ही आचार्य शुक्ल ने उनके ऊपर कुछ विस्तार से विचार किया है। उनका अभिमत है कि "रूप, गुण और क्रिया तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिये अधिकतर सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है।" प्रभाव की दृष्टि से उन्होने रूप की चार प्रधान श्रेणियाँ निर्धारित की है जो भावों को लक्ष्य करके बनाई गई है—अनुरंजक, भयावह, आश्चर्यकारक और घृणोत्पादक। इन भावों को लक्ष्य कर के ही कवियों को 'अप्रस्तुत' का चुनाव करना चाहिये।

क्रिया और गुण का अनुभव तीव्र कराने लिये प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच रहने वाले धर्म के उन्होने तीन रूप माने हैं—(१) दोनों का धर्म एक ही होता है, (२) दोनों का धर्म एक न होकर समान होता है, (३) एक का धर्म उपचार से दूसरे में भी बताया जाता है। इन्ही तीनों रूपो में से किसी-न-किसी का प्रयोग सादृश्यमूलक अलंकारों में होता है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच सादृश्य और साधर्म्य के अतिरिक्त एक और प्रकार का साम्य भी निहित रहता है, जिसे शुक्लजी ने प्रभाव-साम्य कहा है। उनके अनुसार 'साहित्य-दर्पण' आदि साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थो में केवल साधर्म्य या सादृश्य का ही उल्लेख है; किन्तु उपमामो के

चुनाव मे प्राचीन काल से ही प्रभाव-साम्य पर दृष्टि रहती चली आई थी। वास्तव मे पाश्चात्य प्रभाव से जब हिन्दी की नई कविता में प्रभाव-साम्य पर चुने हुए अप्रस्तुतो की रमणीय योजना प्रचुर परिणाम मे दिखाई पडने लगी तब शुक्लजी का ध्यान साम्य के उस आधार की ओर गया। अपने इन्दौर वाले भाषण मे उन्होने इस बात पर हर्ष प्रकट किया था कि "वर्तमान नये ढग की कविताओ मे विशेषतः प्रभाव-साम्य पर ही दृष्टि रखी जाती है।"

प्रभाव-साम्य के अतिरिक्त एक शब्द-साम्य भी होता है जिसमे श्लेषादि की योजना से ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे समता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे साम्य को शुक्लजी ने यह कह कर तिरस्कृत कर दिया कि इसको "लेकर तमाशे खड़े करना तो केवल केशव जैसे चमत्कारवादी कवियो का काम है।"

शुक्लजी यह मानते हैं कि प्रतीको का विचार भी भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत हुआ है, किन्तु इस बात की ओर मे भी उन्होने सजग कर दिया है कि उपमा, रूपक आदि मे लाये जाने वाले उपमानों को सर्वत्र प्रतीक मानना असंगत है। उन्होने स्पष्ट कहा कि "प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है।" इमसे प्रकट है कि वे उसे अलंकार से सूक्ष्मतर और गम्भीरतर वस्तु मानते है। उन्होने अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि जिन उपमानो मे प्रतीकता होती है, उसमे भावोद्‌बोधन की अधिक क्षमता का रहना भी स्वाभाविक है।

कुछ अलंकार ऐसे भी होते है जहाँ यह निश्चय करना प्रायः कठिन हो जाता है कि उन्हे भाव के अन्तर्गत रखा जाय अथवा अलंकार के। स्मरण, संदेह और भ्रान्ति के प्रसग ऐसे ही होते है। ऐसे प्रसगो में, ठीक पहचान करने के लिये शुक्लजी अलंकार की ऊपर कही हुई परिभाषा

को सामने रखने की ही सम्मति देते है, जिसमे बताया गया है कि जहाँ सदृश वस्तु लाने मे कवि का उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष दिखाना रहता है, वही अलंकारता मानी जानी चाहिये, अन्यत्र नही।

उन्होने 'स्मरण', 'भ्रम' आदि अलंकारो पर अलग-अलग विचार भी किया है। उनके मत से 'स्मरण' अलंकार और भाव में एक अन्तर यह भी होता है कि अलंकार तो केवल सदृश वस्तु के समक्ष लाये जाने पर ही संगठित होगा किन्तु भाव तो किसी सम्बन्धी वस्तु के आ पड़ने पर भी उद्रिक्त हो जायेगा। उसी प्रकार 'भ्रम' नामक अलंकार मे विषय ही प्रधान रहता है, विषयी की प्रधानता से 'भ्रम' नामक भाव हो जाता है।

रूपक अलंकार पर अलग विचार करते हुए उन्होने एक छोटी-सी समस्या का और उपस्थापन किया है। वह यह है कि निरंग रूपक में तो सादृश्य और साधर्म्य दोनों का निर्वाह हो सकता है किन्तु साँग रूपक में किसी एक का होना भी सर्वत्र सम्भव नही। साम्य का विस्तार अधिक दूर तक चलकर, इस बात के लिये अवकाश नही छोड़ता कि सादृश्य या साधर्म्य सदैव निभता चला जाय। इसीलिये महान् कवियो के लम्बे-लम्बे रूपक भी इस दृष्टि से खरे नही उतरते। हिन्दी की नई कविता मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, अर्थान्तिरन्यास आदि अलंकारो के स्थान पर साकेतिक लाक्षणिक पदावली और अन्योक्ति की मनोरम योजना को इसीलिये शुक्लजी ने अधिक पसन्द किया है —

"वह (साम्य) अब प्रायः थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिए दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति पद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है।" ['रसमीमांसा' पृष्ठ ३४४]

रीति—रीति के ऊपर उन्होने कोई गभीर तात्त्विक विचार नही प्रकट किये है, कारण यह है कि वे उसे काव्य का एक साधक

उपादान मात्र मानते थे जिसमे वर्णों का विन्यास भाव का उपकारक बन जाता है। उन्होने यह तो अवश्य स्वीकार किया कि, "बहुत-सी रचनायें तो केवल पद-लालित्य और छन्द की मधुरता के कारण ही लोकप्रिय हो जाती है।" किन्तु वामन की भाँति वे 'रीतिरात्मा काव्यस्य' न कह सके। उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण मे इस बात का स्पष्ट निषेध किया है कि केवल 'मंजु, मंजुल, प्रांजल, उदण्ड, प्रचण्ड आदि शब्दों से भी काव्य बन सकता है।

छन्द-विधान—छन्द का विचार शुक्लजी ने कुछ अधिक विस्तार के साथ किया है। उनकी दृष्टि मे छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचों (Patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय स्वर के उतार-चढ़ाव के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।" प्रकृत-काव्य मे इन ढाँचों का बना रहना वे आवश्यक समझते हैं, उसके सर्वथा त्याग से तो उन्हें अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।

कविता के भीतर छन्दों के रहने से लाभ यह होता है कि पाठक उक्त ढाँचो की सीमा और लय-विस्तार को सरलता से पकड़कर कविता में निहित नाद-सौन्दर्य तक पहुँच जाता है। इस सम्बन्ध में कोई नियत संकेत न होने पर अवश्य ही उसे भटकना पड़ेगा और ऐसे मे काव्य-प्रभाव बिखर जायेगा। इसीलिये शुक्लजी ने कहा है कि अपनी पूर्णता के लिये (कविता) संगीत और चित्रकला दोनों की पद्धति का थोड़ा बहुत सहारा लेती है।" यदि हम छन्द के रूढ़ बन्धनो का परित्याग कर दें तो लय को तो अपनाना ही पड़ेगा और लय भी आचार्य की दृष्टि में "एक प्रकार का बंधन ही है।" लेकिन शुक्लजी कविता में केवल लय से पूरा पड़ता नही देखते, वे छन्द की आवश्यकता समझते हैं :—

"जो कविता में केवल उतने ही नाद-सौन्दर्य की जरूरत समझते हैं जितना केवल लय के द्वारा सिद्ध हो जाता है उनसे हमें कुछ कहना नहीं है। हम अधिक की जरूरत समझते हैं और शायद बहुत से लोग ऐसा ही समझते हों।"

प्रत्येक काव्य के इतिहास से ज्ञात होता है कि छन्दों के क्षेत्र में नित्य-नूतन उद्भावनाये होती रहती हैं और अगणित नूतन छन्द सामने आते रहते हैं। छन्दो के ये नये बंधान शुक्लजी को अमान्य नही। मात्राओं और शब्द समूहों के घटाने-बढ़ाने से संशोधित छन्दो में यदि नया संगीत उत्पन्न हो सके तो वह भी उन्हे स्वीकार्य है। संभवतः इसीलिये हिन्दी के नये कवियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा, "छोटे बड़े चरणों की यदि योजना करनी हो तो भिन्न-भिन्न छन्दों के दो-दो चरण रखते हुए बराबर चले चलने में हम कोई हर्ज नहीं समझते।"

कविता का तुकान्त होना वे अनिवार्य नही समझते और चरणों के विभिन्न प्रकार के मेल करने के पक्ष में अपनी सम्मति देते हैं। फिर भी उनका यह विश्वास है कि "संस्कृत के वर्णवृत्तों का-सा माधुर्य अन्यत्र दुर्लभ है।" हिन्दी में प्रचलित मात्रिक छन्दों और उनके योग से संघटित छन्दों में भी शुक्लजी ने सौन्दर्य का अनुभव किया है क्योकि "इन छन्दों की लयों के भीतर नाद-सौन्दर्य की हमारी रुचि निहित है।" छन्द-हीन कविता की सराहना वे नही कर सके, यह बात वाल्ट ह्विट मैन की आलोचना से स्पष्ट है।

काव्य का वर्गीकरण

काव्य का वर्गीकरण, शुक्लजी ने दो दृष्टियों से किया। एक को तत्त्व-दृष्टि और दूसरी को रूप-दृष्टि कह सकते हैं। पहली में रमणीयता का कोटिक्रम रस के आधार पर निर्धारित किया गया है और दूसरी में काव्य-रूप के बाह्य एवं आन्तरिक विधान का ध्यान रखा गया है। अगले पृष्ठो में वर्गीकृत रूपों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके औचित्य पर विचार किया जायेगा।

रस-दृष्टि :—

जिस प्रकार शुक्लजी रसात्मक अनुभूति की विभिन्न कोटियाँ मानते है उसी प्रकार उस अनुभूति के लिये विषय प्रस्तुत करने वाले कवियों और काव्यो की भी ऊँची-नीची कोटियाँ निर्धारित करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि उन्होने सम्पूर्ण वर्गीकरण रस को ही दृष्टि मे रखकर किया है। अतः उन कवियो को जो लोकसामान्य आलम्बनो के विधान का प्रयास करते और उसमे सफल होते है, उन्होने सच्चे और ऊँचे कवियो की श्रेणी मे रखा है। किन्तु जो कवि भावों के लिये उपयुक्त विषय प्रस्तुत करने के बजाय केवल आलंकारिक चमत्कार पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर देते हैं या कोरे उपदेशो के लिए छन्द-योजना का आश्रय लेते है वे सूक्तिकारो या नीतिकारो की श्रेणी मे डाले गये है।

कविता और सूक्ति मे तो शुक्लजी ने स्पष्ट भेद स्थापित किया है, "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।" यह भेद-स्थापन, भाव को ही केन्द्र मे रखकर किया गया है—मार्मिक भावना मे लीन होने का अर्थ है हृदय मे किसी भाव का उदय होना। किन्तु इस नियम का प्रयोग सरलता के साथ सभी स्थानो पर नही किया जा सकता। ऐसी अनेक कवितायें हमारे समक्ष उपस्थित हो सकती है; और बराबर होती है, जिनमे एक ओर तो भावोद्बोधन की क्षमता रहती है और दूसरी ओर रचना-वैचित्र्य या चमत्कार का अनुरंजन भी। ऐसी जटिल परिस्थिति पाठकों के समक्ष बहुधा उपस्थित होती है। शुक्लजी की धारणा है कि ऐसे प्रसंगो में केवल प्रधानता के आधार पर ही सूक्ति या काव्य का निर्णय किया जा सकता है। जब तक उक्ति की तह मे रहने वाला भाव बिल्कुल ही आच्छन्न न हो जाय अर्थात् प्रस्तुत अर्थ का लोप ही न हो जाय तब तक उसे काव्य मानना समीचीन है। 'तुलसी', 'सूर' आदि के

साथ रहीम को शुक्लजी ने कवियों की श्रेणी मे माना और 'सूक्ति-कारो' की अलग श्रेणी बनाते हुए कहा कि, "रीतिकाल के भीतर वृंद, गिरिधर, घाघ और वैताल अच्छे सूक्तिकार हो गये हैं ।"

रस की ही दृष्टि से कवियों की एक निम्नतर श्रेणी निर्धारित करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा कि कुछ उपदेशक ऐसे होते है जो अपने पद्यो मे वस्तु या अर्थ का बोध कराने के लिए "उपमा रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं, पर समझाने के लिये ही करते हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नही ।" ऐसे व्यक्तियो को वे केवल 'पद्यकार' कहते हैं। शुक्लजी ने अपने इतिहास मे काव्य के अतर्गत उक्त तीनो श्रेणियो—कवि, सूक्तिकार, पद्यकार—मे पड़ने वाले लेखको का विचार किया है। इससे स्पष्ट है कि वे काव्यकारों की ये ही तीन कोटियाँ निर्धारित करते है और इसी प्रकार कविता की भी तीन कोटियाँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

रूप-दृष्टि :—

रचना शैली को दृष्टि मे रखकर भी शुक्लजी ने अपनी काव्य-समीक्षा मे कविता का वर्गीकरण किया है। जिस काव्य-रूप को उन्होंने सबसे अधिक महत्त्व दिया वह है प्रबन्ध-काव्य। इस काव्य-रूप की अनेक विशेषताओ का उद्घाटन आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रयोगात्मक आलो-चनाओ मे यत्र-तत्र प्रसग-वश किया है। उन सबके सम्मिलित रूप से उनकी प्रबन्ध-काव्य-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। इतिवृत्त का आधार लेकर ही प्रबन्ध-काव्य का निर्माण होता है अत. सबसे प्रथम विचारणीय वस्तु वही हे। शुक्लजी कहते है कि, "प्रबन्ध-काव्य में इति-वृत्त की गति इस ढंग से होनी चाहिए कि मार्ग में जीवन की ऐसी -बहुल-सी दशाएँ पड़ जायें जिनमें मनुष्य के हृदय मे भिन्न भावो का स्फुरण होता है और जिनका सामान्य अनुभव प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः कर सकता है। यदि भावो को उत्तेजना प्रदान करने वाले ऐसे मार्मिक प्रसंग किसी इतिवृत्त मे सन्निविष्ट नही रहेंगे तो उसमें रसोद्बोधन की

क्षमता नहीं उत्पन्न हो सकती। यदि काव्य में ऐसे रसात्मक स्थल पर्याप्त मात्रा में आ जाते हैं तो बीच के नीरस, इतिवृत्तात्मक प्रसंग भी सम्पूर्ण प्रबन्ध के रस से रसवान् हो उठते है। साहित्य-दर्पण मे भी इसी मत का प्रतिपादन है। शुक्लजी ने यह भी बताया है कि, बात केवल इतनी ही नहीं है कि इतिवृत्त के अंतर्गत रसात्मक-प्रसंगों का सन्निवेश होना चाहिये बल्कि यह भी है कि रसात्मक प्रसंगों तक पहुँचने के लिये ही नीरस इतिवृत की योजना की जाती है।

माघ के "अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः" वाले प्रसंग को ध्यान मे रखकर शुक्लजी ने इतिवृत्त के संगठन में सबसे अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना घटनाओं या वृत्तों का सम्बन्ध-निर्वाह। और इस तत्त्व के ऊपर जायसी के प्रसंग मे विचार करते हुए उन्होंने लिखा कि सम्बन्ध-निर्वाह मे "पहले तो यह देखना चाहिए कि प्रासंगिक कथाओं का जोड़ आधिकारिक वस्तु के साथ अच्छी तरह मिला हुआ है या नहीं अर्थात् उनका आधिकारिक वस्तु के साथ ऐसा सम्बन्ध है या नहीं जिससे उसकी गति में कुछ सहायता पहुँचती हो।" प्रासंगिक वस्तु ऐसी ही होनी चाहिए जो किसी-न-किसी प्रकार आधिकारिक वस्तु को आगे बढ़ाने या किसी अन्य दिशा मे मोड़ दे। आधिकारिक वस्तु के प्रकरण में शुक्लजी ने यह स्थिर किया कि इसका सम्बन्ध मुख्यतः नायक से ही रहता है किन्तु उसके जीवन की सभी घटनाओं का विवरण देना प्रबन्धकार कवि के लिये आवश्यक नही। यदि वह घटनाओं को ही प्राधान्य देता है तो अवश्य ही उसकी कविता मे विवरण का विस्तार अधिक मिलेगा किन्तु इसके विपरीत यदि वह व्यक्ति को प्रधानता देता है तो केवल मुख्य घटनाओं की योजना इस उद्देश्य से करेगा कि उनके द्वारा नायक के किसी गुण या वैशिष्ट्य का उद्घाटन हो जाय।

यूनानी आचार्य अरस्तू ने जिसे कार्यान्वय या Unity of action कहा है उसका निर्वाह शुक्लजी जितना नाटक के लिये उचित समझते हैं

उतना ही प्रवन्ध-काव्य के लिये भी। उनके अनुसार "जैसे दृश्य-काव्य का वैसे ही प्रत्येक घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य का एक 'कार्य' होता है जिसके लिये घटनाओं का सारा आयोजन होता है जैसे 'रामचरित' में रावण का वध।" अरस्तू के अनुसार कथा-वस्तु के आदि मध्य और अन्त तीनों का परिस्फुट रूप 'कार्यान्विय' के अन्तर्गत ही प्रकट होना चाहिये। शुक्लजी इस व्यवस्था से सहमत हैं और जायसी की आलोचना में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रवन्ध-काव्य के भीतर नियोजित उक्त 'कार्य' नैतिकता, सामाजिकता आदि की दृष्टि से महान् होना चाहिए अथवा साधारण या निम्नकोटि का, इस सम्वन्ध मे शुक्लजी अपना कोई निर्णय नही देते—केवल पूर्व और पश्चिम की मान्यताओं का उल्लेख भर कर देते है। मैथ्यू आर्नल्ड के मत को उद्धृत करके वे कहते है कि जिस प्रकार पूर्व के आचार्य प्रबन्ध-काव्य मे महत् 'कार्य' के आयोजन का नियम स्थिर कर गये थे उसी प्रकार पश्चिम मे भी उसके समर्थक आलोचक विद्यमान थे।

सम्बन्ध-निर्वाह के अंतर्गत ही शुक्लजी ने कथा की गति के विराम का उल्लेख किया है। इस विराम के दो लक्ष्य निर्दिष्ट किये जा सकते है—पहला तो वही है जिसे हम इतिवृत्त के अंतर्गत समाविष्ट होने वाले रसात्मक प्रसंगो की योजना मे देख चुके है और दूसरा वह जिसमें कवि कथा प्रसंग को रोककर किसी वस्तु का अत्यन्त विस्तृत और असंबद्ध वर्णन करने मे लग जाय।

प्रवन्ध-काव्य के अंतर्गत दूसरी मुख्य विचारणीय बात उन्होने यह मानी है कि कवि इतिवृत्त के अंतर्गत जिन रसात्मक प्रसंगों का सन्नि-वेश करता है उनका उचित निर्वाह—अर्थात् अपने वर्णन कौशल द्वारा उनकी मार्मिकता का पूर्ण उद्घाटन कर पाता है अथवा नहीं। प्रवन्ध-कार कवि की भावुकता की वास्तविक परीक्षा तो इसी बात से हो सकती है कि वह इन प्रसंगों को पहचान सका है अथवा नही अर्थात् इन्हें देखकर

इनमें उसकी वृत्ति रमी है अथवा नही। "प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नही।"

इन मार्मिक प्रसगो का विस्तार प्रबन्ध-काव्यो मे दो रूपो मे उपलब्ध होता है—(१) कवि द्वारा वस्तु-वर्णन के रूप मे, (२) पात्र द्वारा भाव-व्यंजना के रूप मे। वस्तु-वर्णन के प्रसग में, जैसा हम पहले देख चुके है शुक्लजी बिम्ब-ग्रहण कराने को सच्चे कवि का कर्म समझते हैं, केवल अर्थ-बोध कराने को नही। किन्तु प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत पात्र द्वारा जो वस्तु-व्यंजना होती है उसके सम्बन्ध मे दो बातों का ही विचार हो सकता है—एक भावो की व्यापकता से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी उसके उत्कर्ष से। एक मे यह देखना आवश्यक है कि कवि की पहुँच कितने मानव-भावो तक है और दूसरे मे यह कि उन भावो को वह कितने उत्कर्ष तक पहुँचा सका।

'रामचरितमानस' पर विचार करते हुए प्रबन्ध-काव्य के महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप मे 'सवाद' का उल्लेख भी शुक्लजी ने किया है। प्राय: प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य मे पात्रो की योजना के साथ 'सवादो' का विनियोग कवि को करना ही पडता है। यदि ये संवाद केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ही उपस्थित हो तो कवि के कौशल का परिचय नही देते किन्तु यदि ये भाव-प्रेरित हो और चमत्कार के साथ-साथ पात्रों की भाव व्यंजना मे भी सहायक बन जाएँ तो उनमे कवि का नैपुण्य लक्षित होने लगेगा। केशव के 'सवादो की प्रशंसा करते हुए शुक्लजी ने कहा—'इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यजना भी सुन्दर है (जैसे लक्ष्मण, राम परशुराम-संवाद तथा लव कुश के प्रसग के संवाद) तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाँवपेच, का आभास भी प्रभाव पूर्ण है।" बिल्कुल भरती के संवाद प्रबन्ध-काव्य के रस को विकृत कर देते हैं।

केशव की आलोचना करते समय शुक्लजी ने प्रबन्ध-काव्य के एक अन्य उपादान का उल्लेख किया है—स्थानिक विशेषता (Local Colour)। बहुधा ऐसा होता है कि प्रबन्ध-काव्य का इतिवृत्त जिस मार्ग से जाता है उसमे मानव-जीवन की अनेक दशाओं के साथ जगत् को अनेक विभिन्नधर्मी की झाँकियाँ भी उपलब्ध होती हैं। दृश्यो के इस वैभिन्य को ध्यान में रखकर उन झाँकियो का अपने वास्तविक परिवेश मे चित्रण करना ही स्थानिक विशेपता का निरूपण करना है। ऐसा करने के लिए प्रबन्धकार कवि के भीतर दो विशेपताओं का होना अनिवार्य है—पहली तो यह कि वह इस सत्य को पहचान सके कि किस वस्तु का वर्णन कहाँ पर होना चाहिए यानी कौन-सी वस्तु कहां होती है, और दूसरी यह कि उसकी वृत्ति उन झाँकियों मे रम सके। कहना नही होगा कि यह दूसरी विशेषता वही है जिसका उल्लेख इतिवृत्त के रसात्मक प्रसंगो पर विचार करते हुए हम पहले कर चुके है किन्तु वस्तुओ के स्थान की पहचान उससे अलग है और प्रबन्ध-काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है।

ऊपर दिए हुए विवरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने प्रबन्ध-काव्य के गठन और रचनात्मक उपादानो का स्वरूप निर्धारित करते समय पश्चिम और पूर्व की कुछ मान्यताओ का आश्रय अवश्य लिया जैसे अरस्तू का का 'कार्यान्वय' और माघ का 'अनुज्झितार्थं सम्बन्ध'। किन्तु इसके साथ ही इस क्षेत्र में उनकी मौलिक उद्‌भावनाये भी स्पष्ट हैं। मार्मिक प्रसंगो के चुनाव और कथा की गति के सामयिक विराम की बात उन्होने अपनी ओर से जोड़ी।

प्रबन्ध-काव्य के वर्गीकरण का कुछ संकेत भी शुक्लजी मे उपलब्ध होता है। वस्तुतः, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखते समय उन्हे विभिन्न रूपो और शैलियो वाले प्रबन्धो का विचार करना पड़ा है और उसी अनुक्रम मे उनको विभिन्न श्रेणियाँ निर्धारित करके प्रायः सभी

रचनाओ को किसी-न-किसी श्रेणी में डालते चले गये है। इस प्रकार, यह वर्गीकरण तात्त्विक अथवा सैद्धान्तिक तो नही कहा जा सकता, किन्तु इसका महत्त्व अवश्य है।

रीतिकाल के 'अन्य कवियों' पर विचार करते हुए शुक्लजी ने उनके प्रवन्ध-काव्यो को दो वर्गो में बाँटा है—(१) कथात्मक-प्रबन्ध, (२) वर्णनात्मक प्रवन्ध। पहले वर्ग में उन्होने जो काव्य-ग्रन्थ रखे हैं उन्हे देखते हुए 'मानम' और 'पद्मावत' को भी उन्ही मे स्थान मिल सकता है, यह अवश्य है कि इनमें काव्यत्व पूर्ण मात्रा मे हैं और रीति-कालीन कथा-काव्यों मे केवल अल्प मात्रा में। वर्णनात्मक प्रबन्धों में वस्तु-वर्णन का अत्यधिक विस्तार रहता है जैसे दान-लीला, मान-लीला जलविहार इत्यादि ग्रन्थों मे। इस वर्णन का विस्तार जब सीमा का अतिक्रमण करने लग जाता है तव, "अच्छे-अच्छे धीरों का धैर्य छूट जाता है।"

प्रवन्ध-काव्य का एक तीसरा रूप शुक्लजी को आधुनिक-काव्य का विवेचन करते समय मिला और वह है अन्तमु ख प्रवन्ध। 'निराला जी' के 'तुलसीदास' नामक काव्य-ग्रन्थ के लिए उन्होने कहा कि वह "एक बड़ी रचना है जो अधिकांश अन्तमु ख प्रवन्ध के रूप में है।" उनके विवेचन से प्रतीत होता है कि ऐसे प्रवन्ध मे मनुष्य के अन्तर्जगत् की ही पूर्ण झाँकी मिलती है, बाह्य-जगत् की नही। 'छायावाद' की अनेक छोटी-छोटी प्रवन्धात्मक कवितायें भी इसी वर्ग मे डाली जा सकती हैं।

मुक्तक-काव्य—शुक्लजी का यह वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है कि "यदि प्रवन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाजो के लिए अधिक उपयुक्त होता है।" मुक्तक मे रस की धारा नही रहती, केवल उसके छींटे ही उड़ते रहते है जो हमारे चित्त को थोड़ी देर के लिए सिक्त कर देते है। इसलिए यह सिद्ध हुआ

कि मुक्तक में जीवनचर्या का संघटित क्रम लक्षित नही होता, केवल उसका कोई खण्ड दृश्य ही सामने आता है; किन्तु वह दृश्य इतना मार्मिक होता है कि पाठक उसमें लीन होकर एक क्षण में ही रसानुभूति प्राप्त कर लेता है।

विस्तार के इस संकोच या मर्यादा के कारण मुक्तक लिखने वाले कवि को "मनोरम वस्तुओं और व्यापारो का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा मे प्रदर्शित करना पड़ता है।" इसीलिए सफल मुक्तकों की रचना के लिए कवि में जहाँ एक ओर कल्पना की 'समाहार-शक्ति' होनी चाहिए वहाँ दूसरी ओर भाषा की समास-शक्ति भी। तभी वह कम-से-कम समय और साधनो के साथ अधिक-से-अधिक मार्मिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है।

अगर भाव की दशाओं की दृष्टि से विचार करे तो मुक्तक मे 'भाव-दशा' या 'क्षणिक दशा' ही मिलेगी जो एक समय पर एक आलंबन के प्रति होती है, 'स्थायी दशा' या 'शील दशा' नही। दूसरी बात शुक्लजी को यह दिखाई पड़ी कि मुक्तकों में अतिरंजित वर्णनो का इतना बाहुल्य था कि जीवन-वास्तव का सही चित्र कवि लोग नही प्रस्तुत कर पाते थे। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता तथा वस्तु-चित्रण और काल्पनिक-चित्रण आदि का सम्बन्ध मुक्तक की शैली से उतना नहीं है जितना कवि की आन्तरिक प्रवृत्ति से। अतः इस सम्बन्ध मे शुक्लजी का दृष्टिकोण एकांगी जान पड़ता है। तीसरी बात यह थी कि प्रगीत मुक्तकों में आत्माभिव्यक्ति का प्राधान्य था, उसमें गूढ़ मनोगत भाव की व्यंजना कभी सीधी और कभी प्रतीकात्मक शैली पर हुआ करती थी। इस पर से शुक्लजी यह धारणा बना लेते हैं कि प्रगीत मुक्तक में, आत्म-कामना और निजी 'योग-क्षेम की भावना' का पूर्णरूप से परिहार नही हो पाता; किसी-न-किसी रूप में, उनका समावेश अवश्य हो जायेगा परन्तु उच्चतम कोटि का काव्य निजी 'योग-क्षेम' की भावना

से सर्वथा निर्लिप्त रहता है। "अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि हृदय है।" शुक्लजी की इस स्थापना से असहमत होने का कोई कारण नही, परन्तु यह मान लेना कि केवल प्रबन्ध-काव्यो मे ही 'जगत् के वास्तविक दृश्यो' मे रमाने की शक्ति होती है या हो सकती है, ठीक नही। वास्तव मे यदि कवि की मूल प्रेरक अनुभूति मे यथार्थ जीवन का स्पदन विद्यमान है और उसकी वस्तून्मुखी दृष्टि जगत् के अन्तर्वाह्य सौन्दर्य का साक्षात्कार कर सकती है, तो कोई कारण नही कि उसके मुक्तको मे 'जीवन की वास्तविक दृश्यो' की झाँकी न दिखाई पडे। आत्मानुभूति यदि लोकानुभूति के संदर्भ मे ठीक वैठ सकती है तो शैली की भिन्नता के कारण कोई कठिनाई नही उपस्थित होती। शुक्लजी ने स्वयं आगे चलकर लिखा है, "गीतावली गीत काव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप मे हुई है जिसमें मनुष्यो को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है।"

चौथी वात यह थी कि मुक्तको मे रस के छींटे ही उड़ते हुए दिखाई पडते थे, अजस्र प्रवाह नही था। रसवादी आचार्य के लिए काव्य-रस का अजस्र प्रवाह ही अधिक मूल्यवान था, कुछ थोडे से रस विन्दुओं से उसकी परितृप्ति कहाँ हो सकती थी? विहारी की आलोचना करते हुए अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे उन्होंने लिख भी दिया कि "प्रवन्ध यदि एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है, इसीलिए वह सभी समाजों में अधिक आदर पाता है।" यह सत्य है कि मुक्तक या गीति-काव्य मे विलम्वमयी रमणीयता का अभाव होता है और इसीलिए चित्र को किसी विशेष भाव से चिरकाल तक आन्दोलित-आह्लादित करने की शक्ति उसमे नहीं होती।

पांचवी बात यह थी कि मुक्तक की सुदीर्घ परम्परा मे जीवन के सिद्ध-पक्ष या उपभोग-पक्ष को ही काव्य का उपजीव्य बनाया गया था—अधिकांश मुक्तकों में शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षो का ही चित्रण रहता था। कही-कही इसी प्रेम-भाव को एक विलक्षण रहस्यानुभूति के रूप मे भी व्यक्त कर दिया जाता था। शुक्लजी के काव्यगत दृष्टिकोण से परिचित प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि जीवन के प्रयत्न-पक्ष या लोकमंगल की साधनावस्था को काव्य के सर्व-श्रेष्ठ उपजीव्य के रूप में ग्रहण करने का आग्रह वे सदैव करते रहे। सिद्ध-पक्ष या भोगपक्ष में उन्हें कर्म-शीलता का उत्साहमूलक रूप नहीं दीखा। इसीलिए मुक्तक का समर्थन वे न कर सके।

प्रबन्ध में लोक-मंगल की सिद्धावस्था अथवा साधनावस्था का निरूपण शैली से अनिवार्यतः संबद्ध नही है। [ऐसे भी अनेक मुक्तक लिखे गए जिनमे साधनावस्था के मनोरम चित्र हैं, जैसे 'निराला' की 'सरोज-समृति' शीर्षक कविता और दूसरी ओर ऐसे प्रबन्ध-काव्यो की भी कमी नही जिनमे सिद्ध-पक्ष ही प्रधान हो उठा है जैसे 'साकेत'] तथापि ऐतिहासिक परम्परा और रचनाओं के परिमाण की दृष्टि से सिद्ध-पक्ष प्रधान मुक्तक ही अधिक लिखे गए।

छठी बात यह थी कि शुक्लजी विभाव पक्ष पर अधिक बल देते थे, भाव-पक्ष पर कम। प्रबन्ध के भीतर विभाव के विस्तार की पूरी सम्भावना रहती है, किन्तु मुक्तक के भीतर सीमा के संकोच के कारण, आत्याभिव्यक्ति या भाव-पक्ष ही प्रधान हो उठता है। इसलिए स्वाभाविक था कि वे प्रबन्ध की ओर विशेष झुकाव रखते।

सातवी बात यह थी कि विषय की गोचरता जितनी प्रबन्ध मे आवश्यक रहती है उतनी मुक्तक मे नही। नये प्रगीत मुक्तको में तो अगोचर का चित्रण बड़ी धूम-धाम से हो रहा था। किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'अगोचर' को भाव के आलम्बन के रूप में स्वीकार

करने के लिए शुक्लजी कभी तैयार नही थे। इसलिए भी मुक्तकों की ओर से वे उदासीन रहे।

प्रबन्ध के पक्ष मे उनके वही तर्क हो सकते है जो ऊपर दिए गए हैं। लेकिन उनकी आलोचनाओं मे ऐसे भी संकेत मिलते है जो मुक्तक के पक्ष मे बड़े प्रबल तर्क की सृष्टि कर सकते है। उन्होने प्रबन्धकार कवि की कुशलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह माना कि कथा के बीच मे पड़ने वाले मार्मिक प्रसगों को वह पहचान सका अथवा नही, उन प्रसंगो मे रमने और रमाने की शक्ति उसके भीतर है अथवा नहीं। इन प्रश्नों का समाधान पाकर ही प्रबन्धकार कवि की सफलता-असफलता का निर्णय कर सकते हैं। किन्तु इन मार्मिक प्रसगों को पहचानने और उनमे रमने का तात्पर्य क्या है? इन प्रसंगो की निजी विशिष्टता क्या है? विचार करने पर विदित होगा कि प्रबन्ध कथानक के भीतर भी प्रगीतात्मक (Lyrical) प्रसग और तत्त्व रहते हैं; उनका चित्रण भी प्रगीतात्मक शैली पर ही होता है, उनमे सहृदय को रमाने की अपूर्व शक्ति होती है। अतः जिसे हम मार्मिक प्रसंग की पहचान या रमणीयता कहते हैं, वह और कुछ नही, केवल प्रबन्ध के अन्तर्गत आने वाला प्रगीतात्मक प्रसंग और उसकी रमणीयता ही है। मुक्तकों में भावों की जैसी सघनता और अन्विति दिखाई पड़ती है, उसी का समावेश प्रबन्ध के मार्मिक प्रसंगों मे भी हो जाता है। इस प्रकार प्रबन्ध और मुक्तक की समन्वित कला भाव-व्यंजना को पूर्णता प्रदान करके अतिरिक्त रमणीयता का सृजन करती है।

'क्षणिक-दशा' मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है; 'स्थायी दशा' महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि प्रबन्धों में और शीलदशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में।" भावदशा की दृष्टि से मुक्तक और प्रबन्ध का उक्त भेद-निरूपण सर्वथा मौलिक और वैज्ञानिक है।

प्रबन्ध और मुक्तक के अतिरिक्त गीत-काव्यों की स्वतन्त्र परम्परा पर भी शुक्लजी ने विचार किया है। गीत-काव्य का मूल स्रोत उन्होंने जनता के बीच चिरकाल से प्रचलित लोकगीतों में देखा और उसके महत्त्व की ओर संकेत करते हुए कहा है, "देश की अन्तर्वर्त्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है।" 'सूरसागर' के विषय में भी उन्होंने लिखा है कि वह "किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"

गीत-काव्य में जीवन की अनेकरूपता या प्रयत्न-पक्ष का निदर्शन नहीं होता, इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम की अपेक्षा लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण का चरित्र उसके लिए उपयुक्त है।

गीत-काव्य में वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना दोनों पाई जाती हैं किन्तु दोनों में ही अधिकतर कवियों का ध्यान अतिरंजना की ओर अधिक रहता है। शुक्लजी ने प्रारम्भ में ही विभाजन करते हुए कहा है कि "काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत (इमिटेटिव) या प्रकृत (रियलिस्टिक) तथा अतिरंजित (एग्जैजरेटिव) या प्रगीत (लिरिकल)।" गीत-काव्य के अर्थ में ही या 'प्रगीत' का प्रयोग समझना चाहिए, क्योंकि उसी अध्याय में वे जब तुलसीदास की प्रवृत्ति का उल्लेख करने लगे तब उन्हें प्रगीत की ओर झुका न बता कर प्रकृत-काव्य यानी प्रबन्ध-काव्य की ओर झुका हुआ बताया।

आधुनिक कविता में प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) का जो व्यापक प्रचार दिखाई पड़ा उसे शुक्लजी ने एक अलग श्रेणी में रखा और उसके ऊपर यूरोपीय प्रभाव देखा। यूरोपीय काव्य की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "बात यह है कि प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति-निरूपक (Subjective) प्रगीत मुक्तकों की ओर ही अधिक हो जाने के कारण बाह्यार्थ निरूपिणी (Objective) प्रतिभा का ह्रास हो गया ··।" और गुप्त जी

के 'साकेत' की चर्चा करते हुए, तो उन्होने स्पष्ट लिख दिया कि, उनकी इच्छा प्रबन्ध-काव्य लिखने की उस समय हुई, "जब उनकी प्रवृत्ति देखा-देखी अग्रेजी ढग के फुटकल प्रगीत-काव्यो (Lyrics) की ओर हो चुकी थी।" इस उद्धरण से यह सिद्ध हो जाता है कि शुक्लजी प्राचीन मुक्तकों से नवीन छायावादी मुक्तकों को भिन्न समझते है लेकिन उन्होने दूसरे का कही ऐसा विश्लेषण नही किया, जिससे उसका ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो सके। इसका कारण यही था कि वे इस नवीन शैली को अपनी सहानुभूति न दे सके।

काव्य की उपर्युक्त विधाओं का निरूपण करने के बाद यह कहने की आवश्यकता नही कि उन्ही के समानान्तर उनके रचयिताओं के वर्ग बन सकते है। शुक्लजी ने सभी प्रकार के कवियों की उन प्रवृत्तियों को लक्ष्य किया है जो विभिन्न शैलियो मे सफलता का कारण बनती है और जिनका होना रचयिताओ में अनिवार्य है। ये प्रवृत्तियाँ काव्य रूपों के उन्ही रचनात्मक उपादानों को लक्ष्य करके निरूपित की गई हैं। अतः उनका अलग से उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक है।

उन्होंने काव्य के रचयिता अथवा विषय के प्राधान्य की दृष्टि से स्वानुभूतिनिरूपक (Subjective) वाह्यार्थ निरूपक (Objective) काव्य-भेदों का भी अपनी प्रयोगात्मक आलोचना मे उपयोग कर लिया है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करते हुए वे उस भेद को अनावश्यक ठहरा देते हैं। उनका कहना है कि "यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है।" वास्तव मे कवि जिन वाहरी वस्तुओ को ग्रहण करता है उन्हे भी अपनी अनुभूति मे ढाल कर अपना ही बना डालता है, प्रत्येक दशा मे वह स्वानुभूति की ही व्यजना करता है, परानुभूति की नहीं। अतः उक्त भेदों का कोई तात्त्विक आधार नही, इसलिए शुक्लजी ने कह दिया है कि आलोचना मे इसका उपयोग इस उद्देश्य से किया जा रहा है कि उन पाठको का समाधान हो जाय जो 'विलायती दृष्टि' से प्रत्येक चीज को देखा करते हैं।

काव्य के वर्गीकरण का एक आधार शुक्लजी ने और निरूपित किया है—साधन-सिद्ध-पक्ष। कुछ काव्य ऐसे होते है जो जीवन के प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलते है और संघर्ष-लीन पात्रो की मनोदशाओं और घटनाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है—जैसे 'रामचरितमानस'। दूसरे काव्य वे होते है जिनकी दृष्टि मुख्यतया जीवन के रमणीय सिद्ध पक्ष पर होती है—जैसे मेघदूत या सूरसागर।

काव्येतर साहित्य

काव्येतर-साहित्य से हमारा अभिप्राय है निबन्ध, आलोचना, कथा-साहित्य आदि से। शुक्लजी ने 'काव्य' से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया। काव्येतर साहित्य के सम्बन्ध मे उनकी मान्यताएँ केवल प्रसगत: ही व्यक्त हुईं। यदि वे 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखने नही जाते तो कदाचित् इन मान्यताओ के व्यक्त होने का अवसर भी नही मिलता। इस त्रुटि की ओर उनका ध्यान गया अवश्य, किन्तु 'भाव-योग' का जो सिद्धान्त लेकर वे चले थे उसमे तात्त्विक रूप से शैलियों के परीक्षण की सामर्थ्य होते हुए भी, ब्योरेवार विश्लेषण की क्षमता नही थी। कारण, रस-शास्त्र की पुरानी शब्दावली में नये काव्य का मूल्याकन जैसे-तैसे भले ही कर लिया जाय लेकिन उपन्यासों, कहानियो आदि के परीक्षण मे उससे विशेष सहायता नही मिल पाती। काव्य-रस से उपन्यास-कहानी के रस की विभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए उन्होने अनेक बार कहा कि कविता सुनना और कहानी सुनना एक ही चीज नही। एक में रमणीयता का प्राधान्य है तो दूसरे मे कौतूहल और जिज्ञासा का। एक मे श्रोता सुनी हुई बात को बार-बार सुनकर उसमें रमना चाहता है और दूसरे मे आगे का वृत्त जानने के लिये समुत्सुक रहता है। इससे प्रकट है कि 'भावयोग' की एक निश्चित मर्यादा है जिसको अधिक प्रसारित करना शुक्लजी उचित नही समझते। लेकिन काव्येतर-साहित्य के सम्बन्ध मे जो विचार उन्होने व्यक्त किये हैं, और

जो मान्यताएँ निर्धारित की है उनका मूल्य कम नही। वे 'भाव-योग' के विरुद्ध भी नही पड़ती। किन्तु उस सिद्धान्त का विस्तृत निर्वाह उनके भीतर दिखाई नही पडता। आगे उनकी ऐसी मान्यताओ के स्पष्टीकरण का प्रयास किया जा रहा है।

निबन्ध—इन्दौर वाले भाषण में शुक्लजी ने कहा है, "ऐसे प्रकृत निबन्ध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे है।" इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे निबन्ध के प्रकृत स्वरूप के विधान मे (१) विचार-प्रवाह, (२) व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य, और (३) हृदय के भावो की झलक—अनिवार्य मानते थे। विचार-प्रवाह से उनका तात्पर्य शृंखलाबद्ध गूढ-गुम्फित विचारों की परम्परा से था; व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य को वे शैली और भाषा का वैशिष्ट्य मानते थे, और हृदय के भावो की झलक से उनका प्रयोजन सरसता के सचार का था। किसी सुगठित सरस निबन्ध मे उक्त तीनो तत्त्व किसी-न-किसी मात्रा मे सन्निविष्ट मिलेगे।

गद्य-साहित्य के अतर्गत निबन्ध का महत्त्व कितना अधिक है, इसका सकेत शुक्लजी ने निम्नाकित प्रसिद्ध वाक्य मे दिया है, "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" किसी भाषा का गद्य कितना अधिक विकास प्राप्त कर सका है, उसमे विवेचन-विश्लेषण की कितनी अधिक क्षमता उत्पन्न हो चुकी है, और जीवन की जटिल अनुभूतियो और चिन्तनाओ को व्यक्त करने में वह कितना सफल हो सका है,—आदि प्रश्नो का ठीक-ठीक उत्तर उस भाषा-विशेष के निबन्ध-साहित्य के परिशीलन से ही प्राप्त हो सकता है। शुक्लजी ने बताया है कि निबन्ध की इसी गरिमा को ध्यान मे रखकर "गद्य-शैली के विवेचक उदाहरणों के लिये अधिकतर निबन्ध ही चुना करते हैं।"

शुक्लजी निबन्धो के इस पाश्चात्य लक्षण से सहमत है कि उनमें व्यक्तिगत विशेषता या लेखक का व्यक्तित्व स्फुट होना चाहिए किन्तु व्यक्तित्व के स्फुट होने का क्या अर्थ है इसकी ओर सकेत कर देना वे अनिवार्य समझते हैं। निबन्ध मे वैयक्तिकता का प्राधान्य होने से जो विचार और भाव-सम्बन्धी उच्छृंखलता उत्पन्न होगी उसकी आशका करते हुए वे कहते है—

"व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला रखी ही न जाय, या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठ-योगियों के-से आसन कराये जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"

उक्त अवतरण से सिद्ध है कि व्यक्ति-वैचित्र्यवाद चाहे काव्य में हो चाहे निबन्ध में, शुक्लजी द्वारा उसके विरोध का आधार केवल एक है—व्यक्त अनुभूतियो का साधारणीकरण होता है अथवा नही। निबन्ध-लेखक के विचार, उसकी भाषा और उसके भाव लोक-सामान्य होने पर ही चरितार्थ हो सकते हैं। अपने व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की रक्षा करता हुआ भी वह उक्त तत्त्वो को सर्वजन-संवेद्य बना सकता है। शुक्लजी लेखक की विचारगत विशेष्पता को नीचे लिखे ढग से लक्षित करते है :—'निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।" इसी अर्थगत विशेषता के आधार पर शैली या भाषा सम्बन्धी विशेषता खड़ी हो सकती है, "जहाँ नाना अर्थ-सम्बन्धों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परम्परा नहीं, वहाँ

एक ही स्थान पर खड़ी-खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।"

तत्त्व-चिन्तक या वैज्ञानिक से निबन्ध-लेखक को अलग करते हुए शुक्लजी उसकी इस विशेषता की ओर संकेत करना नही भूलते कि "निबन्ध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनो को लिये हुए।" बुद्धि और हृदय के साहचर्य को वे अपने निबन्धो में प्रदर्शित कर गये है—"यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर।"

शैली-शिल्प और विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल ने निबन्धों का वर्गीकरण भी कर दिया है। वे केवल तीन वर्गो का उल्लेख करते है—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। किन्तु ऐसा संकेत दे देते है कि "निबन्ध या गद्य-विधान कई प्रकार के हो सकते हैं।" फिर इन वर्गों मे भी लक्ष्य-भेद से कई अवान्तर भेद हो सकते हैं और कई प्रकार की शैलियाँ निर्धारित की जा सकती है, जैसे "विचारात्मक निबंधों मे व्यास और समास की रीति; भावात्मक निबन्धों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति" इन शैलियो के आधार पर भी निबन्धो का वर्गीकरण हो सकता है और होता है।

पाठकों की दृष्टि से, उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध का यही लक्ष्य हो सकता है कि उनको "श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि हो, 'श्रम-साध्य' कहने का यह अर्थ नही कि लेखक की शैली अनावश्यक रूप से दुर्बोध या जटिल हो, शैली की दुर्बोधता और जटिलता उसी अवस्था मे श्लाघ्य हो सकती है जब उसके भीतर से कोई नूतन उपलब्धि हो, पाठक के ज्ञान मे वास्तविक वृद्धि हो। यदि जटिल शैली के अनुपात मे ही वस्तु-सत्य का गाभीर्य और विस्तार न हो तो लेखक का सारा प्रयास व्यर्थ होगा। संक्षेप मे शुक्लजी की निबन्ध-सम्बन्धी मान्यताओ का यही स्वरूप है। ध्यान देने की बात यह है कि वे हलके-फुल्के ढंग से लिखे निबन्धो को

विशेष महत्त्व नहीं देते। विचारो की ठोस गूढ-गुम्फित परम्परा का होना उसके लिए अत्यन्त अनिवार्य मानते हैं। भावात्मक निबन्धो के प्रति भी उनकी उतनी सहानुभूति नही मालूम होती जितनी विचारात्मक निबधो के प्रति, यह उनके विवेचन से सहज स्पष्ट है।

समालोचना—साहित्य-समालोचना शुक्लजी का प्रधान कार्य-क्षेत्र है, अतः इस सम्वन्ध मे उन्होने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार भी किया। समालोचना को वे केवल गुण-दोष-कथन के रूप मे ग्रहण करना ठीक नही समझते, उसके गंभीरतर उद्देश्य का निरूपण करते है। उन्होने लिखा है—"इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी वदला। गुण-दोष के कथन के आगे वढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतः-प्रकृति की छान-बीन की ओर भी ध्यान दिया गया।" जब तक काव्य के मूल स्रोत—कवियो की अंत प्रकृति—का विश्लेषण नही होता तब तक आलोचना से लाभ क्या।"

विषय-विवेचन और उद्देश्य को लक्ष्य कर शुक्लजी ने समालोचना के दो मार्ग निर्धारित किये है—(१) निर्णयात्मक (Judicial Method), (२) व्याख्यात्मक (Inductive Criticism) पहले मार्ग का उन्होने निम्नांकित लक्षण वताया—

"निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है।" इसलिए उसमे कही तो विवेच्य कवि की प्रशसा होती है कही निन्दा। दूसरी ओर व्याख्यात्मक समीक्षा "अपने शुद्ध रूप में काव्य-वस्तु ही तक परमित रहती है अर्थात् उसी के अंग-प्रत्यग की विशेषताओं को ढूँढ़ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करने में तत्पर रहती है।" काव्य-वस्तु और शैली का वास्तविक विश्लेषण इस प्रणाली मे ही संभव है। किन्तु व्याख्या करते समय आलोचक अपनी प्रकृति और अभिरुचि के अनुसार विभिन्न तत्त्वो मे से किसी एक को अधिक महत्त्व दे सकता है और देता है। इससे

विभिन्न तत्वो की प्रधानता को लक्ष्य करके व्याख्यात्मक आलोचना के अनेक रूपो का निर्धारण किया जा सकता है। उदाहरण के लिये ऐतिहासिक समीक्षा को ले सकते है। इसका लक्ष्य "यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सबध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परपरा में क्या स्थान है।" इसी प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना का एक-दूसरा प्रकार मनोवैज्ञानिक आलोचना है जिसके अन्तर्गत, "कवि के जीवन-क्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म अनुसंधान" भी रहता है। इसी प्रकार उन्होंने दर्शन, विज्ञान आदि की दृष्टि से भी व्याख्यात्मक आलोचना के अनेक भेदो की ओर सकेत कर दिया है।

यद्यपि आलोचना का उक्त स्वरूप यूरोपीय समीक्षा को ध्यान मे रखकर निरूपित किया गया है, तथापि इसे शुक्लजी द्वारा किये गये सामान्य विवेचन या वर्गीकरण के रूप मे ग्रहण करने में कोई आपत्ति नही हो सकती। हिन्दी-आलोचना मे भी ये प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती हैं।

किन्तु निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाओं के अतिरिक्त भी आलोचना के अन्य वर्ग होते है। इसमे सबसे मुख्य है—प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा।

इसमे आलोचक किसी सामान्य सिद्धान्त का उपयोग नही करता, केवल रचना के मार्मिक प्रभाव को ग्रहण कर अपनी भाषा में अकित कर देता है। "प्रभाववादियों का पक्ष यह है "हमारे चित्त में किसी काव्य से जो आनन्द उत्पन्न होता है वही आलोचना है। इससे अधिक आलोचना और चाहिये क्या। जो प्रभाव हमारे चित्त पर पड़े उसी का वर्णन यदि हमने कर दिया तो समालोचना हो गई।" आलोचना की इस प्रणाली का आचार्य शुक्ल ने जोरदार खण्डन किया, यहाँ तक कि वे इसे समीक्षा मानने मे भी सकोच करने लगे,— 'प्रभावाभिव्यंजक

समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।" समीक्षा की इस प्रणाली पर व्यंग्य करते हुए शुक्लजी ने श्री जे० ई० स्पिगर्न महोदय के उस मत को उद्धृत किया है जिसमे उन्होने इसे Feminine Criticism या जनानी समीक्षा कहा है। अपने इन्दौर वाले भाषण मे उन्होने तत्कालीन सहयोगियो से निवेदन किया है कि "भाइयो कुछ 'मरदानी समीक्षा' भी होनी चाहिए।"

शुक्लजी का यह विचार है कि समीक्षा की यह प्रणाली हिन्दी मे स्वतन्त्र रूप से विकसित नही हुई है बल्कि यूरोप से चलकर बंगाल होती हुई यहाँ आ पहुँची। इसके अकल्याणकर प्रभाव को ध्यान मे रख कर उन्होने कहा "बात यह है कि इधर अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर 'छायावाद' चला, उधर उसके साथ ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा (Impressionist Criticism) का फैशन बंगाल होता हुआ आ धमका।.........इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिन्तन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता ही छेक लिया।"

ऊपर दिये हुए विवरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी आलोचना की व्याख्यात्मक प्रणाली को ही सबसे अधिक लाभप्रद और वैज्ञानिक मानते हैं। यह प्रश्न अलग है कि कलाकृति के परीक्षण के लिए मुख्य कसौटी क्या हो सकती है। इस प्रश्न का सम्बन्ध, वस्तुत. शुक्लजी की उस सम्पूर्ण साहित्यिक विचारणा से है जिसका परिचय ऊपर दिया गया है। साहित्य के सामान्य प्रश्नो और समस्याओ पर किसी आलोचक के क्या विचार है, उनके पक्ष अथवा विपक्ष मे उसकी क्या धारणा है, इन प्रश्नो का उत्तर प्राप्त करके ही उसकी आलोचना की कसौटी को हृदयंगम किया जा सकता है। इसी कसौटी को समझने के लिए शुक्लजी के साहित्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण सैद्धान्तिक चिन्तन को एक क्रम से संकलित कर दिया

गया है। ये सिद्धान्त ही उनकी आलोचना का मुख्य आधार निर्मित करते हैं।

नाटक—नाटकों का प्रचार इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से था और उसके सभी पक्षों का सर्वांगपूर्ण निरूपण प्राचीन 'नाट्य-शास्त्र' में हो चुका था। अत: शुक्लजी ने नवयुगीन नाटकों के उत्थान के सम्बन्ध में कुछ सुझाव ही दिये हैं। नाटक की रूप-रचना आदि से सम्बद्ध तत्त्व-चिन्तन उनमें नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि, अत्यन्त प्राचीन काल से नाटक का विवेचन काव्य के अन्तर्गत ही होता रहा, अतः जो तात्त्विक समस्याएँ काव्य में उठीं वही नाटक में भी थीं। 'रस' की समस्या तो मूलतः नाटक की ही थी और इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर शुक्लजी आजीवन विचार करते रहे। दूसरा कारण यह भी था कि नूतन हिन्दी-नाटक, विकास की जिस प्रारम्भिक अवस्था में था, उसे देखते हुए शास्त्रीय चिन्तन की सम्भावना नहीं हो सकती थी।

शुक्लजी का यह विश्वास था कि काव्य में चमत्कार और वक्रता के लिए जितना अवकाश है उतना नाटक में नहीं। कारण, नाटक कथोपकथन के आधार पर चलते हैं और यदि पात्रों की बात-चीत "बराबर वक्रता लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायेगा और सारा नाटकत्व निकल जायेगा।" नाटक और काव्य का यह मूल अन्तर भाषा की भंगी से सम्बन्ध रखता है और इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आधुनिक नाटकों में रस के स्थान पर शील-वैचित्र्य या चरित्र-चित्रण की प्रधानता होने लगी थी, किन्तु प्राचीन नाटकों में रसोत्पत्ति पर ही अधिक बल दिया जाता था। शील की निर्धारित मर्यादाओं के भीतर वहाँ अधिक अवकाश नहीं था। इस प्रश्न पर शुक्लजी का दृष्टि-कोण समन्वयवादी है। उन्होंने कहा है कि "हमारे यहाँ के पुराने ढाँचों के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका

बन्धन हटाकर वैचित्र्य के लिए मार्ग खोलना तो ठीक ही है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ रसात्मकता भी हम निकाल दें।"

नाटको के भीतर पहले जिन दृश्यो (जैसे मृत्यु, वध, युद्ध आदि) का विधान प्राचीन आचार्यों ने वर्जित ठहराया था, उन्हे ले आने मे शुक्लजी आपत्ति नही समझते किन्तु "देश को परम्परागत सुरुचि की रक्षा के लिए कुछ" व्यापारो का वर्जित रहना आज भी नाटको के लिए उपयोगी समझते हैं, जैसे चुम्बन, आलिंगन आदि।

प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनेक अनावश्यक और समयातिक्रान्त (out-of-date) उपकरणो का परित्याग ही वे कल्याणकारी समझते है। विदूषक को लेकर उन्होने यहाँ तक लिख दिया है कि "पुराने नाटकों में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था उसके स्थान पर कथा की गति से सबद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है, यह बहुत अच्छी बात है" लेकिन इतना कहते हुए भी वे आज के नाटककारो को यह चेतावनी देना नही भूलते कि प्राचीन नाट्य-शास्त्र का रचना-विधान सर्वथा अस्वाभाविक नही था।

आचार्य शुक्ल, नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी प्राचीन और यूरोपीय प्रभाव से विकसित होने वाली प्रवृत्तियो और रचना-विधानों के समन्वय के पक्षपाती थे जैसा उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट है—

"हिन्दी नाटकों के स्वतन्त्र विकास के लिए ठीक मार्ग तो यह दिखाई पडता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाए रहें, पर उनके स्वरूप के प्रसार के लिए और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों का मेल सफाई के साथ करते चलें।" कहना नही होगा कि साहित्यिक विकास का सबसे अधिक प्रशस्त मार्ग यही है।

उपन्यास—'उपन्यास' शीर्षक से शुक्लजी का एक लेख 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' भाग १५ स० ३ मे प्रकाशित हुआ था। उक्त लेख में उपन्यास की विषय-वस्तु को दृष्टि मे रखकर उन्होने बताया कि "यह उन

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है जिससे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर है।" इसीलिए उनका विचार है कि उपन्यास-विचारो को प्रभावशाली ढग से व्यक्त करने का बडा शक्तिशाली माध्यम है। "लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परि-स्थितियाँ खड़ी होती रहती है उनको गोचर रूप से सामने लाना और कभी-कभी विस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।"

उपन्यास मे कोई-न-कोई वृत्त अवश्य होता है किन्तु वह साहित्य की अन्य शैलियों की भाँति, इतिहास से अलग है। यह भेद मुख्यतः शैली-सम्बन्धी है जिसकी ओर शुक्लजी ने अपने उसी लेख मे संकेत किया है।

"इतिहास कभी उन बहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिए जिनसे जीवन का तार बँधा है एक सांकेतिक (**Symbolic**) व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है पर उपन्यास का सन्तोष इस प्रकार नही हो सकता। इतिहास कही यह कहकर छुट्टी पा जायेगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब इस 'अत्याचार' शब्द के अन्तर्गत बहुत से व्यापार आ सकते हैं। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी-किसी को प्रत्यक्ष करने में लग जायेगा।"

काव्य मे लम्बे-लम्बे दृश्य-वर्णन और धारा-प्रवाह भाव-व्यजनाएँ ठीक हो सकती हैं परन्तु उपन्यास मे उनका प्रयोग ठीक नही। काव्य से स्वतन्त्र उपन्यास की निजी विशेषता यह है कि "घटनायें और पात्रों के क्रिया-कलाप ही भावों को बहुत-कुछ व्यक्त कर दे, पात्रों के प्रगल्भ भाषण की उतनी अपेक्षा न रहे।" शील-वैचित्र्य का उद्घाटन भी उपन्यास का मुख्य काम है—हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासो मे शुक्लजी ने इसका नितान्त अभाव पाया।

विषय-वस्तु को ग्रहण करने मे जितनी सावधानी सामाजिक उपन्यास मे वरती जाती है उससे कही अधिक सावधानी की आवश्यकता शुक्लजी ऐतिहासिक उपन्यास की सामग्री के चयन मे समझते है। उन्होने कहा है कि "जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।" इससे प्रकट है कि उनकी दृष्टि मे ऐतिहासिक उपन्यास के लेखक के लिए दो वस्तुएँ अनिवार्य हैं—(१) इतिहास के काल-विशेष की सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति का पूर्ण अध्ययन (२) सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म अप्राप्त व्यौरों की ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना। इन तत्त्वों की अवहेलना करने पर उपन्यास मे जो असम्बद्ध वस्तुएँ और व्यापार एकत्र होगे उनका उपहास करते हुए वे कहते है "अब किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बावर के सामने हुक्का रखा जायेगा, गुप्तकाल में गुलाबी और फीरोजी रग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़-फ़ानूस लाये जायेंगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिये जायेंगे और उन पर करतल ध्वनि होगी, बात-बात में 'धन्यवाद' 'सहानुभूति' जैसे शब्द तथा 'सार्वजनिक कार्यो 'मे भाग लेना' ऐसे फिकरे पाये जायेंगे तो काफी हँसने वाले और नाक-भौं सिकोड़ने वाले मिलेंगे।"

हिन्दी के तत्कालीन उपन्यासों की कथावस्तु के स्वरूप और लक्ष्य को ध्यान मे रखकर शुक्लजी ने उनका वर्गीकरण भी कर दिया है। ध्यान से देखने पर विदित होता है कि इस वर्गीकरण को वे बहुत स्थूल रूप में ले रहे थे—उसे उपन्यास के सामान्य या तात्त्विक वर्गीकरण के रूप मे नही ले सकते। उन्होने यह भी संकेत दिया है कि जिस प्रकार

ऊपर भेद-स्थापन किया गया है उसी प्रकार अनुसन्धान और विचार करने पर "और दृष्टियों से भी कुछ भेद किये जा सकते है।"

कहानी—छोटी कहानियो का प्रचलन आधुनिक काल मे यूरोप के प्रभाव मे ही हिन्दी मे हुआ लेकिन जितनी वैविध्यपूर्ण कहानियाँ यहाँ लिखी जा चुकी है उन सबको पाश्चात्य साँचे मे ठीक-ठीक बिठाना असम्भव है। शुक्लजी ने कहा है कि "उसके इतने रूप-रग हमारे सामने आये है कि वे सब के सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं घुस सकते।" छोटी कहानी मे मार्मिकता अधिक होती है और उसके लिये मार्मिक परिस्थिति और संवेदना की एकता आवश्यक है। "...... हमे मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी जिसके भीतर कई ऐसी सवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप देगा।" कहानी मे चरित्र-विकास के लिये भी अच्छा अवकाश रहता है और लेखको को उसका उद्योग करना चाहिए किन्तु उसके अभाव में भी कहानी, कहानी बन सकती है। वस्तु-विन्यास के वैचित्र्य की ओर सकेत करके शुक्लजी ने कहा, "घटनाओं में काल के पूर्वापर क्रम का विपर्यय कही-कहीं इस तरह का मिलेगा कि समझने के लिये कुछ देर रुकना पड़ेगा।" कहना अनावश्यक है कि ऐसे विधान से पाठक के कौतूहल की वृद्धि होने के कारण कहानी की रोचकता और उसका मार्मिक प्रभाव दोनो बढ जाते है। एक एक दृश्य को सामने रखने और उसका मूर्त्त चित्र प्रस्तुत करने का जो प्रयास अनेक कहानियो मे रहता है, उन्होने उसकी ओर भी सकेत किया है, "कही-कही चलते हुए वृत्त के बीच मे परिस्थिति का नाटकीय ढंग का छोटा-सा चित्र भी आ जाता है। इस प्रकार के चित्रों में चारों ओर सुनाई पड़ते हुए शब्दों का सघात भी सामने रखा जाता है।" रमणीय वस्तु-योजना के लिये ऐसा विधान कितना आवश्यक है यह आधुनिक कहानी के पाठक मात्र जानते है।

गद्य काव्य—गद्य-काव्य का प्रचलन शुक्लजी के समक्ष पर्याप्त मात्रा मे हो चुका था किन्तु उसके स्वरूप आदि का विस्तृत विवेचन उनकी

समीक्षाओं में उपलब्ध नहीं होता; कारण यह है कि इसे काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध के रूप मे ग्रहण करते हुए भी शुक्लजी ने उसे काव्य ही माना है—अतः उसकी सामान्य समस्यायें भी वही है जो काव्य की। इस ऐक्य की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा—

"अतः रचना-भेद से उनमें भी (गद्य-काव्यों में भी) अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोवद्ध काव्य में होता है, अर्थात् कहीं तो वह अपने प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।"

हिन्दी मे इन गद्य-काव्यो का प्रवेश 'गीताजलि' के प्रभाव से हुआ, ऐसा शुक्लजी ने माना है। लेकिन इसका वहुत अधिक प्रसार वे गद्य के विकास की दृष्टि से कल्याणकारी नहीं समझते—"साहित्य में इस प्रकार के गद्य-प्रवन्धों का भी एक विशिष्ट स्थान है। पर इनकी भरमार मै अच्छा नही समझता।" इसका कारण उन्होने यह दिया कि जब तक काव्य-क्षेत्र की सीमा मे ऐसा गद्य चलता रहेगा तब तक तो कोई आशका की वात नहीं किन्तु यदि काव्य-क्षेत्र से हटकर यह निवन्ध आदि के क्षेत्र मे प्रवेश कर गया तो भाषा का प्रकृत स्वरूप विकृत होने लगेगा। ध्यान से देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि गद्य-काव्यों की-सी शैली ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा मे देखकर शुक्लजी चौंके थे, उन्हे यह आभास हुआ कि यदि ऐसे काव्यो का अबाध विस्तार हुआ तो प्रभावाभिव्यजक समीक्षा की उमड़ती हुई वाढ रोकी नही जा सकेगी। संभवतः इसीलिये वे गद्य-काव्यो के प्रचलन को लाभप्रद नहीं समझते थे। किन्तु, यदि रमणीय कल्पना के आधार पर मार्मिक प्रसगो की उद्भावना हो और वस्तु-सत्य के उद्घाटन की चित्ताकर्षक योजना हो, तो शुक्लजी भाषा के इस चमत्कारपूर्ण प्रयोग को अनुचित नहीं समझते। 'शेष-स्मृतियाँ' की भूमिका मे वे अपना यह मतव्य स्पष्ट कर गये है।

विशिष्ट उद्भावनाएँ

साधारणीकरण का विषय :

शुक्लजी का मत :

"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमे रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।" विषय को ही किसी रूप मे लाया जाता है अत सिद्ध है कि साधारणीकरण उसी का होता है; दूसरे शब्दो मे साधारणीकरण आलम्बन का होता है। शुक्लजी आगे कहते हैं, "इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा-बहुत होता है।" इससे प्रकट है कि किसी विषय मे आलम्बनता का जो गुण होता है, वही साधारणीकृत हो जाता है।

शुक्लजी के उक्त मत को लेकर, हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने एक रोचक आपत्ति उठाई है। वे इस सिद्धान्त से सहमत नही कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है, उनका निष्कर्ष यह है कि "साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते है कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्त्तमान है।"

इसमे कोई संदेह नहीं कि उक्त उपपत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसके द्वारा साधारणीकरण की अपवादी स्थिति—आश्रय के साथ

तादात्म्य और आलम्बन के साधारणीकरण का न होना—के निराकरण का मार्ग स्वच्छ हो गया है। इस सिद्धान्त का उपयोग काव्य अथवा नाटक की सभी स्थितियों मे हो सकता है। कवि की अनुभूति (भाव) के साधारणीकरण (तादात्म्य) की बात शुक्लजी ने भी दो स्थलों मे मानी है ; एक तो वहाँ जहाँ किसी प्राकृतिक दृश्य का यथातथ्य चित्रण हो और आश्रय के रूप में स्वय कवि ही प्रतिष्ठित हो, दूसरे वहाँ जहाँ आश्रय के दुराचारी कृत्यों के कारण हमारे मन मे उसके प्रति घृणा, क्रोध आदि के भाव जग जाये और हम शील-द्रष्टा बन जायें। पहली स्थिति में किसी अन्य आश्रय के न रहने के कारण हमारा तादात्म्य कवि के भाव से ही हो सकता है और दूसरी स्थिति के लिये शुक्लजी ने स्पष्ट कहा है—"इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्तभाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सघटित करता है।" इस अवतरण से प्रकट है कि अपने मूल रूप मे यह स्थापना आचार्य शुक्ल के विवेचन मे विद्यमान थी ; कारण वश वे इसे सामान्य नियम के रूप मे नही ग्रहण कर सके। नगेन्द्रजी ने इसी मूल रूप को अधिक आगे बढ़ाकर, कुछ अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा करते हुए, सामान्य नियम तक पहुँचाया, किन्तु रस-सम्बन्धी वास्तविक विचिकित्सा का समाधान यह सामान्य नियम उतना नही कर पाता जितना शुक्लजी द्वारा उद्भावित सिद्धान्त। आगे दोनो मतो की छान-बीन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

सब से पहले ध्यान देने की बात है 'तादात्म्य' और 'साधारणीकरण' शब्दो का अलग-अलग प्रयोग जिसमें शुक्लजी अत्यन्त सजग हैं। आश्रय और पाठक के भावो के एकीकरण की अवस्था को वे 'तादात्म्य' शब्द से और दोनों के आलम्बनो के एकीकरण को 'साधारणीकरण' शब्द से सूचित करते हैं। इन शब्दों के प्रयोग मे निहित प्रयोजन को परिस्फुट किये विना हम उनके सिद्धान्त का परीक्षण नही कर सकते। 'तादात्म्य' शब्द वस्तुतः विषयी की चेतनता और क्रियात्मकता का बोध

कराता है. शुक्लजी उस क्रियात्मकता पर बल देना चाहते है जो पाठक के हृदय को गतिशील बना कर आश्रय या कवि के हृदय तक पहुँचा देती है। यह पाठक के हृदय की आन्तरिक गति है। 'साधारणीकरण' का प्रयोग वे आलम्बन के लिए करते है जो सजीव या निर्जीव, कुछ भी हो सकता है और जो कवि की कला का स्पर्श पाकर उसी के आघात से पाठको के आलम्बनो के साथ एकाकार होता है। कवि उस आलम्बन को ही इस रूप मे चित्रित अथवा निर्मित करता हुआ अवतरित करता है कि वह पाठकों के आलम्बन स्तर तक उतर आये। उस अवतरण मे कवि का प्रत्यक्ष कौशल अपेक्षित होता है। जिस गति से कवि का आलम्बन पाठक का आलम्बन बनने के लिये गतिशील होता है ठीक उसी गति से उसका हृदय भी कवि अथवा आश्रय के हृदय के साथ एकाकार होने के लिये आगे बढता है और जिस क्षण आलम्बन अंतिम रूप से साधारणीकृत हो जाता है ठीक उसी क्षण आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

ऊपर दिए हुए विवरण से स्पष्ट है कि और आचार्यो से शुक्लजी का दृष्टि-भेद यही से प्रारम्भ हो जाता है। वे काव्यगत आलम्बन और आश्रय की विभिन्नता का भी सदैव ध्यान रखते है। दूसरी ओर डॉ० नगेन्द्र की स्थापना मे इस भेद को हटा देने का प्रयास किया गया है। पूछा जा सकता है कि 'कवि की अनुभूति' का क्या अर्थ है? क्या उसका तात्पर्य केवल काव्यगत आलम्बन से है? या आश्रय भी उसके भीतर सन्निविष्ट है? 'मानस' के पात्रो का उदाहरण ले (जैसे डॉ० नगेन्द्र ने लिया है) तो पूछ सकते है कि प्रेम का आलम्बन होने के कारण 'सीता' ही कवि की अनुभूति का प्रतीक है या उस भाव का आश्रय 'राम' भी? यदि दोनो का समावेश कवि की अनुभूति के अन्तर्गत हो जाता है तो नगेन्द्रजी के निम्नाकित कथन का क्या प्रयोजन?

"इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं (यानी सीता) वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है।" यह मानते हुए भी कि

सीता कवि की ही अनुभूति का प्रतिरूप है, यह प्रश्न बना ही रहता है कि 'राम' क्या है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह भी कवि की ही अनुभूति का प्रतीक है। और फिर, 'सीता' 'राम' ही क्यो, सम्पूर्ण 'रामचरितमानस' ही अपने दृश्यो, घटनाओ और पात्रों के साथ कवि की अनुभूति का अंग सिद्ध हो जाता है। वह 'तुलसी' की अनुभूति का ही बाह्य प्रतिबिम्ब है। यहाँ पहुँचकर जब हम नगेन्द्रजी के इस वाक्य को देखते हैं कि "हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे।", तब स्वतः ही प्रश्न उठता है कि तादात्म्य के इस प्रकरण मे 'तुलसी' क्या है ? क्या वह 'कवि' ही है या रस-शास्त्र मे उसकी और कोई अभिधा भी हो सकती है ? कदाचित् इस तथ्य से नगेन्द्रजी भी सहमत होगे कि यहाँ वह 'आश्रय' के स्थान पर है और इस दृष्टि से सम्पूर्ण "रामचरितमानस' ही आलम्बन है जिसके प्रति कवि-रूप आश्रय का एक निर्दिष्ट भाव है और नगेन्द्रजी के मत से वही भाव पाठको के मन मे भी उद्बुद्ध हो जाता है। कवि के साथ तादात्म्य करने का यही अर्थ हो सकता है। दूसरी ओर नगेन्द्र जी की यह स्थापना है कि 'साधारणीकरण' कवि की अनुभूति (यानी सम्पूर्ण रामचरित-मानस) का होता है। और हम यह देख चुके कि रस-शास्त्र की शब्दावली मे कवि की वह 'अनुभूति' पाठक की दृष्टि से विचार करने पर आलम्बन ही ठहरती है। ऐसी स्थिति मे यह कहने मे क्या आपत्ति है कि 'साधारणीकरण' आलम्बन का होता है ? शुक्लजी ने बची हुई शास्त्रीय शब्दावली का व्यवहार किया है और साधारणीकरण का सिद्धान्त इसी शब्दावली के माध्यम से परिस्फुट किया जा सकता है। चाहे हम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की बात कहें चाहे किसी और की, जब 'विषयी' या 'ग्रहीता' को समक्ष रखेंगे तो 'विषय' या 'ग्राह्य' हमारे समक्ष अवश्य उपस्थित होगा—इन्हे ही आश्रय-आलम्बन के रूप मे देखना होगा और साधारणीकरण की वास्तविकता इनसे ही स्पष्ट करनी होगी।

नगेन्द्रजी की स्थापना के सम्बन्ध मे एक और बात का विचार आवश्यक है। हमने पहले कहा था कि वह सामान्य रूप से सर्वत्र लागू होने वाला सिद्धान्त है; आगे चलकर हमने दिखाया कि वह स्थिति-भेद से शुक्लजी के आलम्बन वाले सिद्धान्त का समर्थन ही है। अब यहाँ यह कहा जाय कि यह सिद्धान्त प्राचीन आचार्यों के ही इस सिद्धान्त की आधुनिक प्रतिध्वनि है कि विभाव आदि सबका साधारणीकरण होता है, क्योंकि कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप ही तो विभावादिको मे व्यक्त हुआ है। इस प्रकार यह स्थापना इतनी सामान्य और व्यापक बन जाती है कि इसके असत्य होने की कोई आशंका ही नही रहती। लेकिन इसके साथ हम यह कहे बिना नही रह सकते कि वस्तु-स्थिति का यह बहुत ही प्रारम्भिक निरूपण है; यह समाधान हमे समस्या के प्रथम सोपान पर ही छोड देता है। शुक्लजी के "साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्य-वाद" शीर्षक लेख को देखने पर यह स्फुट हुए बिना नही रहता कि वे प्रश्न को उस सोपान पर अधिष्ठित नही करते। अपनी अंतःप्रवेश-शीलता के आन्तरिक गुण के कारण वे और आगे बढते है और दो अलग-अलग स्थितियो का अनुसंधान कर लेते है—एक तो वह जहाँ कवि के साथ तादात्म्य करने के साथ-साथ, पाठक काव्यगत आश्रय के साथ भी तादात्म्य कर लेता है और दूसरा वह जहाँ उसका तादात्म्य केवल कवि के ही साथ होता है काव्यगत आश्रय के साथ नही। इस अपवादी स्थति के अस्तित्व को हम स्वीकार नही कर सकते और न यही कह सकते है कि इन दोनो स्थितियो की रसानुभूति सम-श्रेणीय है। दोनों स्थितियो के गम्भीर वास्तविक भेद का निराकरण हम इस स्थापना से नही कर सकते कि कवि की अनुभूति का ही 'साधारणी-करण' होता है।

'अभिधा' में काव्यत्व

शुक्लजी ने काव्यत्व का निवास अभिधार्थ मे ही माना है व्यंग्यार्थ मे नही। उनके इस मतव्य पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा है—

"उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन भर विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्लजी पर क्रोचे का जादू चल गया हो।"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि चिंतन करते-करते अपने तर्क की कमजोरी के कारण किसी एक क्षण मे शुक्लजी ने क्रोचे की बात का ही समर्थन कर दिया। देखना चाहिए कि शुक्लजी ने केवल एक स्थान पर ही ऐसा कहा है अथवा अन्यत्र भी। छान बीन करने पर उनके ग्रन्थों मे इस तथ्य का अत्यन्त दृढ तथा निर्भ्रान्ति प्रतिपादन अनेक स्थलो पर प्राप्त होता है। कुछ प्रसंग निम्नांकित हैं—

"इस वाद में (अभिव्यंजनावाद में) तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वत. कविता नहीं।"

"उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है।"

"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक व्यंजना में लीन कर दे, वह तो है काव्य।"

"उस उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में काव्यत्व या रमणीयता होगी उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं।"

उक्त उद्धरण शुक्लजी की विभिन्न समयों पर लिखी गई विभिन्न पुस्तको से लिये गये हैं और जितनी स्पष्टता विश्वास और दृढता के साथ उनमे एक ही मंतव्य व्यक्त किया गया है उसे देखते हुए डाक्टर साहब के इस मत से सहमत हो सकना कठिन है कि यह किसी दुर्बल क्षण मे आक्रान्त कर लेने वाला जादू है। उक्त प्रसगो को ध्यान से देखें तो प्रतीत होगा कि 'उक्ति' को 'वाच्यार्थ' का पर्याय मान लिया गया। चौथे उद्धरण में तो यह बात स्पष्ट कह दी गई है। पहले उद्धरण मे भी जब यह कह दिया कि (उक्ति) "के पीछे जो

छिपा अर्थ रहता है वह स्वतः कविता नही," तब लेखक का यह मंतव्य प्रकट हुए बिना नही रहता कि 'छिपा अर्थ' का तात्पर्य लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ से ही है और उक्ति का सम्बन्ध वाच्यार्थ से है जिसके पीछे पहले दो छिपे रहते हैं। इस प्रकार चारो उद्धरणों से यही बात पुष्ट होती है कि शुक्लजी पूरी दृढता और सजगता के साथ 'अभिधार्थ' मे ही काव्यत्व की प्रतिष्ठा करना चाहते है। उन्हे यह भी ज्ञात है कि उनके अन्य मंतव्यों के समानान्तर रखने से यह मंतव्य कुछ विलक्षण-सा लगेगा। इसीलिये इन्दौर वाले भाषण मे कह बैठते है कि "मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है।" ऐसा लगता है जैसे वे अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यही कह रहे हों कि "यह मत मेरी अन्य मान्यताओं के विपरीत नहीं, यद्यपि ऊपर से देखने में वैसा ही लगता है।"

काव्य में व्यंग्य वस्तु को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले मार्क्सवादी समीक्षक भी उक्ति के महत्त्व को कम नही कर पाते। जैसी समस्या शुक्लजी के सामने है लगभग वैसी ही समस्या क्रिष्टाफर कॉडवेल के सामने आ जाती है जब वे कहते है कि 'काव्य का निर्माण शब्दों से होता है।' मेलार्मे ने अपने चित्रकार मित्र को सलाह देते हुए कहा था कि 'कविता शब्दो से लिखी जाती है, विचारो से नही।' कॉडवेल महोदय इस मत से सहमत नही—उनकी दृष्टि मे विचारोत्तेजकता तो कविता के भीतर अवश्य ही होनी चाहिये लेकिन उसके शब्द-विधान की भी यह विलक्षणता होती है कि वह अनूदित नही हो पाता। यदि कविता केवल विचारो का ही समुच्चय होती तो उसका अनुवाद अवश्य हो जाता, किन्तु ऐसा होता नही, इसलिये व्यक्त अर्थ के साथ-साथ काव्य मे शब्द की कुछ निजी विशेषता भी अवश्य माननी पड़ेगी। शब्दो का वह निजी वैशिष्ट्य ही काव्य को उपन्यास, नाटक आदि से अलग करता है। यदि यही सिद्धान्त—काव्य का निर्माण शब्दों से होता है—भारतीय शब्दावली मे ढाला जाय

तो उक्ति या अभिधा की प्रधानता स्वतः स्थापित हो जायेगी। क्या शुक्लजी का मंतव्य वही है जो कॉडवेल का? संभव है वे अभिधा की प्रधानता को ही लक्षित करना चाहते हों।

काव्य में वस्तु-व्यंजना

काव्य की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम पहले देख चुके है कि आचार्य शुक्ल सम्पूर्ण चराचर जगत् को काव्य का विषय मानते हैं और शब्द-काव्य की सिद्धि तथा अनुशीलन के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परमावश्यक समझते हैं। यहाँ विचारणीय बात यह है कि कविता में इस व्यापक विषय-वस्तु का सन्निवेश किस पद्धति से किया जाय। यह तो सिद्ध बात है कि कवि वस्तुओं को पाठकों के समक्ष इसीलिये प्रस्तुत करता है कि उनके साक्षात्कार से मनोगत भाव उद्‌बुद्ध हो सके; उसका उद्देश्य केवल वस्तु-बोध कराना नही होता। इसलिए वस्तु-वर्णन को उसे ऐसी प्रणाली अपनानी पड़ती है जो स्थूल-सूक्ष्म वस्तु-रूपों का गोचर प्रत्यक्षीकरण करा सके। इसे ही शुक्लजी ने "बिम्ब-ग्रहण" की प्रणाली कहा है, जिसमे "कवि का लक्ष्य 'बिम्ब ग्रहण' कराने का रहता है केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं।' यह बिम्ब-ग्रहण क्या है? शुक्लजी के अनुसार यह 'सकेत-ग्रह' का ही एक रूप है जो वर्णित वस्तु का बिम्ब या चित्र प्रस्तुत कर देता है और यह अभिधा शक्ति के व्यापार के रूप मे ही माना जाना चाहिए। उन्होने कहा, "यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण अभिधा द्वारा ही होता है। पर 'अभिधा' द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता।...अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है —बिम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण" इससे प्रकट है कि बिम्ब-ग्रहण को आचार्य शुक्ल अभिधा शक्ति का ही व्यापार मानते हैं। एक दूसरे प्रकरण मे उन्होने सम्पूर्ण वस्तु-बोध को अभिधा शक्ति के माध्यम से ही सिद्ध मानकर 'वस्तु' के साथ 'व्यजना' शब्द के प्रयोग, पर सशय प्रकट किया है। प्रकरण-प्राप्त बात इतनी है कि कवि

विभिन्न पद्धतियो का अवलम्बन लेकर वस्तु के गोचर प्रत्यक्षीकरण कराने म प्रवृत्त होता है। वे पद्धतियाँ क्या है ?

पहली है वस्तुओं या व्यापारो की सश्लिष्ट योजना जिसका तात्पर्य है एक ही प्रकरण मे आने वाली परस्पर-सम्बद्ध वस्तुओ और व्यापारो की ऐसी जटिल योजना जो उन्हे एक सम्पूर्ण चित्र मे आवेष्ठित रखती है और बिखरने नही देती। इसके लिये आवश्यक है कि कवि "अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अग-प्रत्यग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति" का अखण्ड चित्र पहले स्वयं हृदयंगम कर ले।

दूसरी पद्धति है व्यापार-शोधन की। काव्य मे व्यापारो के सूक्ष्म बोध मात्र से काम नही चलता, मन के भीतर उनके मूर्त्त रूप का उपस्थित होना आवश्यक होता है। इसीलिये कविता केवल इतना कहकर काम नही चलाती कि "वहाँ अत्याचार हो रहा है।" अपितु "वह निरपराध व्यक्तियो के वध, भीषण यत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि का क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी।" इसी के अनुरूप कविता मे जाति सकेत वाले शब्दो के स्थान पर व्यक्ति-सकेत वाले शब्दों का ही चुनाव करना पड़ता है।

ऐसा रूप-विधान कल्पना द्वारा ही सभव है, शुक्लजी का यह मत हम पहले निरूपित कर चुके हैं; किन्तु यह ध्यान मे रखना है कि वे कल्पना के अनुचित प्रयोग द्वारा उत्पन्न असत्य वस्तु के चित्र का समावेश काव्य मे उचित नही समझते। पहले तो असत्य वस्तुओ के सघटन से किसी प्रकार का चित्र बन ही नही सकता और यदि बना भी तो उससे केवल चमत्कार ही उत्पन्न हो सकता है, अन्य कुछ नही। इसलिये आवश्यक है कि कवि वास्तविक जगत् के वस्तु-सत्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कभी न करे। शुक्लजी ने बताया है कि "सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते है पर वास्तविकता का आधार नहीं छोडते।"

व्यंजित वस्तु को ग्रहण करने की प्रक्रिया मे 'अनुमान' और 'अभिधा' को ही एकमात्र साधन मानकर आचार्य शुक्ल ने महिम भट्ट का समर्थन किया है। वस्तु के स्वरूप तक पहुँचना यानी उसका बोध प्राप्त करना किसी अन्य शब्द-शक्ति की अपेक्षा नही रखता। उन्होंने कहा है "विचार करने पर वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में भट्टजी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं।" यदि व्यंग्य वस्तु कोई पदार्थ या वस्तु ही है तो उनकी बात युक्ति-संगत लगती है। महिम भट्ट के विरोधियो ने वस्तु-व्यंजना के प्रसग मे भी उनके 'अनुमान-सिद्धान्त' को नही माना। यदि शुक्लजी की मान्यता ठीक है तो वह एक ओर महिम भट्ट जैसे आचार्य के सिद्धान्त का संशोधन करती है और दूसरी ओर व्यजनावादियो की वस्तु के बोध-स्वरूप होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

वस्तु और भाव का निकट सम्बन्ध दिखाकर हम यह नही कह सकते कि काव्य-वस्तु भी व्यग्य होती है और उसमे अनुमान की आवश्यकता नही। वस्तु और भाव का सम्बन्ध कैसा ही क्यो न हो, यह धारणा खण्डित नही हो सकती कि वस्तु भाव को जगाने वाले साधन के रूप मे ही है और जब तक वह साधन रूप है तब तक ही शुक्लजी उसे अनुमान-गम्य मानते हैं। जब वस्तु भाव-रूप हो जाती है यानी आलम्बन तथा आश्रय मे तादात्म्य हो जाता है तब तो स्थिति ही बदल जाती है, उस अवस्था मे तो शुक्लजी भी व्यजनासिद्ध रसानुभूति मानते हैं। इसलिए शिवनाथ जी ने शुक्लजी के पक्ष के विपरीत, वस्तु को भाव-रूप मानने पर जो बल दिया वह उपयुक्त नही प्रतीत होता।

इस प्रकरण मे एक बात और। आनन्दवर्द्धन ने जब वस्तु-ध्वनि, अलकार-ध्वनि और रस-ध्वनि वाला वर्गीकरण किया तब उनका मन्तव्य चाहे जो रहा हो किन्तु आगे चलकर अभिनव गुप्त ने सबका समाहार रस-ध्वनि के अन्तर्गत कर दिया।

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने लिखा है—

"अभिनव ने यह भी कहा है कि रस ही काव्य की आत्मा है। वस्तु और अलंकार ध्वनि अन्तोगत्वा रस में ही पर्यवसित होती है। इसीलिए उनको वाच्यार्थ से उत्कृष्ट कहा गया और ध्वनि को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है।"

शुक्लजी ने अपने वस्तु-व्यजना वाले सिद्धान्त मे इसी तथ्य का प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है। काव्य मे केवल वस्तु-रूप का चित्रण और वोध कराना मात्र कवि का लक्ष्य नही हो सकता; वह भाव को जाग्रत करके रसानुभूति कराने का भी प्रयास करता है। उनका तर्क है कि यदि व्यग्य कोई अर्थ होगा तो उसका वोध ही हो सकता है और इसी रूप मे होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है,' अमुक क्रोध कर रहा है।' "परन्तु केवल इस वात का ज्ञान करना कि 'अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है' स्वय क्रोध या रतिभाव का रसात्मक अनुभव करना नही है।" जव तक वस्तु का वोध रसात्मक अनुभूति नही उत्पन्न करता, यानी वस्तु-व्यजना रस-व्यजना मे पर्यवसित नही होती तव तक काव्य का लक्ष्य पूरा नही होता। इसलिए शुक्लजी ने अन्यत्र कहा है कि 'विभाव व्यग्य नही हुआ करता' जिसे देखकर डॉ० देवराज को भ्रम हुआ और उन्होंने लिखा—"यह मान्यता ध्वनिवाद की विरोधिनी है।" वास्तव मे शुक्लजी यह सुझाव देना चाहते हैं कि जिस अर्थ को लेकर हम यह कहते है कि 'रस व्यग्य हैं' उसी अर्थ को लेकर ऐसा नही कह सकते कि 'विभाव-व्यग्य है'। ध्वनि-शास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त जव वस्तु-ध्वनि और अलकार-ध्वनि का रसध्वनि मे पर्यवसान स्वीकार कर लेते हैं तो वे भी प्रकारातर से यही वात कहते हैं।

काव्य में प्रकृति-चित्रण

'विभाव' के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्य मुख्य है; प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से ही भावो को उद्बुद्ध करने वाले विषय चुने जाते हे। इसलिए

'विभाव' की मुख्यता को काव्य मे स्थापित कर लेने के बाद शुक्लजी का प्राकृतिक दृश्यों को उचित महत्त्व देना अनिवार्य था। एक दूसरा कारण यह भी था कि उनकी अन्तःप्रकृति बाह्य प्राकृतिक दृश्यों मे बहुत रमती थी, उनके जीवन सम्बन्धी प्रकरण मे यह बात दिखाई गई है कि प्रकृति-प्रेम उनमें संस्कारगत था। जिस प्रकार उनकी वृत्ति प्रत्यक्ष प्राकृतिक दृश्यों मे रमती थी उसी प्रकार काव्य में वर्णित प्राकृतिक रूपों और व्यापारो का भी वे बड़ी सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करते थे। प्रकृति-वर्णन की जो परम्परा उन्हे वाल्मीकि और कालिदास मे दिखाई पड़ी, हिन्दी मे उसका सर्वथा लोप देखकर उन्हे दुःख होता था।

प्रकृति चित्रण के दो रूप

उनके विचार से प्राकृतिक दृश्य दो रूपो मे हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—(१) आलम्बन रूप में, (२) उद्दीपन रूप मे। उनका आलम्बन रूप ही काव्य में चित्ताकर्षक बनता है। शुक्लजी का तर्क है—

"जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश (जो नगरों में नही आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से सस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि के प्रदर्शन में हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरजन होता है वह अस्वीकृत नही किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल, किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है।"

इससे दो तथ्य प्रकट होते है—

(१) परम्परागत चिर-साहचर्य के कारण प्रकृति-प्रेम हमारे भीतर सस्कार रूप मे निवास करता है।

(२) इसलिए प्रकृति सम्बन्धी अनुरजन को केवल किसी भाव का आश्रित बनाना, या किसी दूसरे भाव का उत्तेजक मानना अनुचित है।

इन्ही दोनो स्थापनाओं को लेकर शुक्लजी अपने मंतव्य को स्पष्ट करते है। दूसरी स्थापना मे 'केवल' शब्द के ऊपर ध्यान जाना स्वाभाविक है। वे कौन से विचारक या कवि थे जो प्रकृति के स्वतन्त्र रूप के अस्तित्व से इन्कार करते थे और उसे केवल अपने भावों से ही रंग कर देखा करते थे। क्या छायावादी कवि ? परन्तु उन्होने तो ऐसा कही नही कहा; उनकी कविताओं मे अवश्य प्रकृति के ऊपर मानव भावनाओं का आरोपण अधिक हुआ। उन्होने प्रकृति के साथ अपने परम्परागत चिर-साहचर्य की भावनाओ के आरोपण द्वारा अधिक प्रतिबिम्बित किया किन्तु वे यह कहकर सामने नही आये थे कि वर्णन की और कोई पद्धति नही हो सकती।

अन्य-भाव—विचारणीय बात यह है कि चिर-साहचर्य द्वारा उत्पन्न प्रेम भावो के आरोपण का अवकाश देता है अथवा नही। शुक्लजी ने इस प्रेम के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए कहा है, "जो (प्रेम) केवल साहचर्य के प्रभाव से अकुरित और पल्लवित होता है वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान शून्य होता है।" और इस प्रेम को उन्होने रूप-सौन्दर्य-गत प्रेम से श्रेष्ठ बताया है। उनके इस निष्कर्ष से असहमत होने का कोई कारण नही, लेकिन इस पर से यह नही कहा जा सकता कि भाव के उत्कर्ष-प्राप्त क्षणो मे इसी साहचर्य के कारण मनुष्य प्रकृति के उपकरणो मे अपने सुख या दुःख की छाया न देखता हो या देख सकता हो। यह तो बहुत स्वाभाविक लगता है कि प्रकृति को अपने सुख-दुःख की सगिनी के रूप मे मनुष्य देखे। उसी प्रकृति के अंतराल से मानव का विकास हुआ और उसी के सस्कार आदिमकाल से ही उसके मन मे जमते चले आये; फिर उसके साथ एकान्त भावुक क्षणो मे यदि मनुष्य अपने भावो का आदान-प्रदान कर लेता है तो उसमें आपत्ति क्या है ? एक-दूसरी बात यह भी है कि वाल्मीकि और कालिदास जैसा साहचर्य आज के मनुष्य को उपलब्ध नही; जितनी सहजता और सरलता के साथ प्राकृतिक दृश्य, अपने मूल रूप में, उनके लिए सवेद्य थे उतनी सरलता के साथ आज

के कवि को नहीं। अतः आज का कवि आरोपण द्वारा ही प्रकृति के सहज रूप की संवेदना अधिक उत्पन्न कर सकता है। यहाँ प्रश्न होगा कि जब मनुष्य का, प्रकृति के प्रति सस्कारगत भाव प्रेम ही है तब क्या अन्य भावों के आरोपण द्वारा उस मूल भाव का रूप विकृत नही होगा। इसका उत्तर है कि नहीं। भावों का जो निरूपण शुक्लजी ने अन्यत्र किया है उसी के आधार पर हम इस स्थिति का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं। प्रकृति के प्रति हमारा जो संस्कारगत प्रेम है वह तो है मूल प्रवर्त्तक भाव (जो शुक्लजी के अनुसार भाव की 'स्थायी-दशा' मे होगा) और बीच-बीच मे जो हर्ष, विषाद आदि का उदय होगा वह सब उसी प्रेम द्वारा प्रवर्त्तित होकर; और ये सारे भाव 'भाव-दशा' को प्राप्त रहेंगे। शुक्लजी की भाव-सम्बन्धी धारणा इस प्रकरण में इतनी सटीक बैठती है कि हमें आश्चर्य होता है कि इसकी ओर उनका ध्यान क्यों नहीं गया।

देश-प्रेम—यह बात ध्यान देने की है कि उन्होंने प्रकृति-प्रेम को एकान्तिक और अहैतुक मानते हुए भी उसे जीवन मे विच्छिन्न नही होने दिया। वे प्रकृति-प्रेम को भी देश-प्रेम का ही अधिक स्वच्छ, परिष्कृत और अंतरीण रूप मानते हैं। उन्होंने अत्यन्त आवेगपूर्ण शब्दो मे कहा है—"देश-प्रेम यदि वास्तव में अन्त:करण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है।"

उद्दीपन रूप की मर्यादा—प्रकृति वर्णन में मनुष्य की क्रियाओं और भावनाओ आदि का आरोप एक निश्चित मर्यादा के भीतर ही हो सकता है, ऐसा शुक्लजी मानते हैं। उनका कहना है कि—

"गिरि शिखर से स्पृष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंग-भरा, शीतल सरस और छायावृत्त आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।" और इससे आगे

बढकर कहते है कि "इसी प्रकार अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर, जो भाव, तथ्य व उपदेश निकाले जायेंगे वे भी सच्चे काव्य होंगे।"

यह सब उन्होने स्वीकार अवश्य किया, किन्तु इसके दृढ प्रतिपादन की बात तो दूर, इसका विवेचन भी उन्होने नही किया। इससे प्रकट है कि इस प्रकार के वर्णन को वे कवि-कर्म का अत्यन्त साधारण अग मानते थे।

बिम्ब-ग्रहण—जैसा हमने वस्तु-व्यजना वाले प्रकरण में दिखाया था, शुक्लजी ने वस्तु के सश्लिष्ट-चित्रण या बिम्ब-ग्रहण के सिद्धान्त पर बहुत अधिक बल दिया। इसलिये स्वाभाविक था कि वे प्राकृतिक दृश्यो के संश्लिष्ट-चित्रण की हो माँग करे। प्रकृति का यथातथ्य सश्लिष्ट चित्र भी, कवि के अनुराग की व्यजना करता हुआ हमारी वृत्तियो को रमा लेता है। अत. यदि केवल उसी चित्र को प्रस्तुत कर दिया जाय तो श्रेष्ठ काव्य का निर्माण हो सकता है जैसा कि वर्ड्सवर्थ, शेली, कालिदास और भवभूति आदि ने किया है।

देखना चाहिये कि 'बिम्ब-ग्रहण' या सश्लिष्ट-चित्रण प्रकृति-चित्रण की दोनो शैलियो मे सम्भव है अथवा केवल आलम्बन वाली शैली ही मे। विचार करने से स्पष्ट है कि उसकी सम्भावना दोनो मे समान है। अन्तर केवल इतना है कि आलम्बन रूप मे चित्रण करते समय कवि का सम्पूर्ण ध्यान उस सश्लिष्ट-विधान की ओर ही रहेगा और 'उद्दीपन' रूप मे चित्रण करते समय भाव की प्रेरणा ही प्रबल रहेगी। अतः संश्लिष्ट चित्र भी भाव से रगकर ही सामने आयेगा, विशुद्ध रूप मे नही। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि मानव भाव या व्यापार का आरोपण करने वाले कवियो ने अन्य कवियों से कम मार्मिक या कम सजीव चित्र निर्मित किये हे। संस्कृत कवियो मे भी दोनो प्रकार की प्रणालियाँ बराबर पाई जाती है।

अर्थ-ग्रहण—यदि कोई कवि प्रकृति का सश्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत करके केवल पेड़ों-फूलो की विस्तृत नामावली तैयार करे तो शुक्लजी उसे अत्यन्त नीचा स्थान देते हैं। उससे कवियों की विस्तृत जानकारी का पता भले ही लग जाय किन्तु कवि-कर्म का मुख्य अंग—वस्तु का मार्मिक या यथातथ्य चित्रण—संघटित नही होता। इसलिये ऐसे प्रयास को उपहासास्पद समझकर वे व्यग्य करते हुए कहते है—

"'कवि' और 'सयाने' जब एक ही समझे जाने लगे तब मनुष्य के व्यवसायविशेष की जानकारी का खजांना भी काव्यों में खुलने लगा।" इसका परिणाम यह हुआ कि वस्तु-चित्रण का अधिकांश भाग केवल सूचियों तक सीमित हो गया। वस्तु-चित्रण के इस स्वरूप को शुक्लजी ने अर्थ-वोध कराना मात्र कहा है।

कल्पना का प्रयोग—जब कल्पना का उपयोग 'प्रस्तुत' के क्षेत्र से 'अप्रस्तुत' के क्षेत्र मे चला गया तब प्रकृति-वर्णन में अलंकार या चमत्कार की मात्रा ही प्रवल हो गई। कवियों का ध्यान रमणीय रूप-विधान या भाव-संवेदना से हटकर उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों की ओर गया। इस समय 'राज-सभाओं में ललकार कर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्यायें दी जाने लगीं; और कवि लोग उपमाउत्प्रेक्षा आदि की अद्भुत-अद्भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे। ये उक्तियां जितनी ही बेसिर-पैर की होतीं उतनी ही वाह-वाही मिलती।"

यह मानी हुई वात है कि ऐसे कवि वस्तु का सच्चा चित्र नही उपस्थित कर सकते और न उनकी कविता को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकता है।

रस—प्रश्न यह होगा कि विशुद्ध या आलम्वन रूप में किये गये प्रकृति-वर्णन मे कौन रस होगा? शुक्लजी के अनुसार शृंगार-रस मानना ही ठीक है, क्योंकि, "प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतंत्र आलम्वन हैं…।"

प्रकृति-प्रेम पर इतना बल देते हुए शुक्लजी को भी आभास हुआ कि सम्भवतः यह उनकी वैयक्तिक रुचि का ही परिणाम है। यदि किसी कवि मे या पाठक मे इस एकान्त प्रकृति-प्रेम की कमी हो तो इसका यह अर्थ नही कि वह कवि, कवि नही और वह पाठक, पाठक नही। उक्त बात की ध्वनि निम्नांकित कथन से मिलती है—"हमारे राम भी मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राज-सभा मे नही। अपनी-अपनी रुचि है।"

अभिव्यंजनावाद

'अभिव्यंजनावाद' का प्रवर्त्तन इटली के आलोचक क्रोचे ने किया। शुक्लजी ने उनके मत का तीव्र प्रतिवाद अपने इन्दौर वाले भाषण मे किया था। विरोध का मुख्य कारण यह था कि क्रोचे अद्वैतवादी थे और शुक्लजी द्वैतवादी। मूल दार्शनिक दृष्टि मे ही भेद हो जाने के कारण दोनो आचार्यों की सारी मान्यताएँ परस्पर टकरा गई। क्रोचे कला को बोध-स्वरूप या ज्ञान-स्वरूप मानते थे। शुक्लजी की दृष्टि मे, भावना नही, बुद्धि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति सम्भव थी।

क्रोचे कला की निराकार अनभिव्यक्त मानसी सत्ता को प्रधानता देते थे। शुक्लजी के लिये यह असह्य था। क्रोचे अलंकार और अलंकार्य का कोई अन्तर मानने को तैयार नहीं थे, किन्तु शुक्लजी उसे किसी भी मूल्य पर बनाये रखने को तैयार थे।

क्रोचे के मत का विरोध उन्होंने केवल इसीलिए किया था कि उसका बुरा प्रभाव हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर न पड़े।

व्यावहारिक आलोचना—

द्विवेदी-युग मे हिन्दी-आलोचना परस्पर विरोधिनी दीखने वाली दो आधार-भूमियो पर विचरण करती रही। पहली आधार-भूमि सामत-कालीन साहित्य-शास्त्र से निर्मित हुई थी जिसमें काव्य की विषय वस्तु की निश्चित इयत्ता स्वीकार करके अभिव्यंजना की नित्य नूतन अलंकृत प्रणालियो की उद्भावना की जाया करती थी और जिसमे काव्य-गुणो, दोषो, अलंकारों, अनुभावों और संचारियो आदि का शास्त्रीय चक्र चलता रहता था। इसके विपरीत दूसरी आधार-भूमि नवयुग की नई परि-स्थितियो से उत्पन्न उन आचारमूलक उपकरणो से गठित हुई थी जो निर्माण-युग के आवेश और उत्थान को बल दे सकते थे। इस आधार-भूमि पर अवस्थित समालोचक साहित्य मे समाजगत, विचारगत और आचारगत मूल्यों की खोज पहले करता था—अभिव्यंजना-प्रणालियों की बाद मे। आलोचना की ये द्विविध दृष्टिभंगियाँ द्विवेदी-युग-मे किसी-न-किसी रूप मे चलती रही और आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति मे इनकी समन्वयात्मक चरम परिणति दिखाई पड़ी। आलोचना के उक्त दोनो भावो को समन्जित करके ही शुक्लजी ने यह ठोस आधार-भूमि निर्मित की थी जहाँ से वे न केवल तुलसी, सूर, जायसी आदि मध्य-कालीन कवियो की परीक्षा करते रहे, अपितु 'पंत', 'निराला', 'प्रसाद' आदि आधुनिक छायावादी कवियो का भी मूल्यांकन करते रहे। बीसवी शता-ब्दी के तीसरे दशक मे जब उन्होने भक्तिकालीन महाकवियों पर अपनी समीक्षात्मक भूमिकाएँ लिखी तब दोनो मानो को समन्जसित करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थी।

शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना मे उनकी साहित्यिक मान्यताओ का अत्यन्त सफल विनियोग दिखाई पड़ता है। वास्तव में

प्रकृति-प्रेम पर इतना बल देते हुए शुक्लजी को भी आभास हुआ कि सम्भवतः यह उनकी वैयक्तिक रुचि का ही परिणाम है। यदि किसी कवि मे या पाठक मे इस एकान्त प्रकृति-प्रेम की कमी हो तो इसका यह अर्थ नही कि वह कवि, कवि नही और वह पाठक, पाठक नही। उक्त बात की ध्वनि निम्नांकित कथन से मिलती है—"हमारे राम भी मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राज-सभा में नहीं। अपनी-अपनी रुचि है।"

अभिव्यंजनावाद

'अभिव्यंजनावाद' का प्रवर्त्तन इटली के आलोचक क्रोचे ने किया। शुक्लजी ने उनके मत का तीव्र प्रतिवाद अपने इन्दौर वाले भाषण में किया था। विरोध का मुख्य कारण यह था कि क्रोचे अद्वैतवादी थे और शुक्लजी द्वैतवादी। मूल दार्शनिक दृष्टि मे ही भेद हो जाने के कारण दोनों आचार्यों की सारी मान्यताएँ परस्पर टकरा गईं। क्रोचे कला को बोध-स्वरूप या ज्ञान-स्वरूप मानते थे। शुक्लजी की दृष्टि में, भावना नही, बुद्धि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति सम्भव थी।

क्रोचे कला की निराकार अनभिव्यक्त मानसी सत्ता को प्रधानता देते थे। शुक्लजी के लिये यह असह्य था। क्रोचे अलंकार और अलकार्य का कोई अन्तर मानने को तैयार नही थे, किन्तु शुक्लजी उसे किसी भी मूल्य पर बनाये रखने को तैयार थे।

क्रोचे के मत का विरोध उन्होंने केवल इसीलिए किया था कि उसका बुरा प्रभाव हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर न पड़े।

व्यावहारिक आलोचना—

द्विवेदी-युग मे हिन्दी-आलोचना परस्पर विरोधिनी दीखने वाली दो आधार-भूमियो पर विचरण करती रही। पहली आधार-भूमि सामत-कालीन साहित्य-शास्त्र से निर्मित हुई थी जिसमे काव्य की विषय वस्तु की निश्चित इयत्ता स्वीकार करके अभिव्यंजना की नित्य नूतन अलंकृत प्रणालियो की उद्‌भावना की जाया करती थी और जिसने काव्य-गुणो, दोषो, अलंकारों, अनुभावों औरसंचारियो आदि का शास्त्रीय चक्र चलता रहता था। इसके विपरीत दूसरी आधार-भूमि नवयुग की नई परि-स्थितियो से उत्पन्न उन आचारमूलक उपकरणो से गठित हुई थी जो निर्माण-युग के आवेग और उत्थान को बल दे सकते थे। इस आधार-भूमि पर अवस्थित समालोचक साहित्य मे समाजगत, विचारगत और आचारगत मूल्यों की खोज पहले करता था—अभिव्यंजना-प्रणालियों की बाद मे। आलोचना की ये द्विविध दृष्टिभंगियाँ द्विवेदी-युग-मे किसी-न-किसी रूप मे चलती रही और आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति मे इनकी समन्वयात्मक चरम परिणति दिखाई पड़ी। आलोचना के उक्त दोनो भावो को समञ्जित करके ही शुक्लजी ने यह ठोस आधार-भूमि निर्मित की थी जहाँ से वे न केवल तुलसी, सूर, जायसी आदि मध्य-कालीन कवियो की परीक्षा करते रहे, अपितु 'पत', 'निराला', 'प्रसाद' आदि आधुनिक छायावादी कवियो का भी मूल्याकन करते रहे। बीसवी शता-ब्दी के तीसरे दशक मे जब उन्होने भक्तिकालीन महाकवियो पर अपनी समीक्षात्मक भूमिकाएँ लिखी तब दोनों मानो को समञ्जसित करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थी।

शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना मे उनकी साहित्यिक मान्यताओ का अत्यन्त सफल विनियोग दिखाई पडता है। वास्तव में

सिद्धान्त-मीमांसा और व्यावहारिक समीक्षा को उन्होंने इतना घुला-मिला दिया है कि दोनों को अलग-अलग करना प्रायः असम्भव है। सिद्धान्त और प्रयोग का यह सामजस्य ही उनके आलोचक व्यक्तित्व की वास्तविक महत्ता प्रकट करता है।

समीक्षा के स्वनिरूपित आदर्श, और पद्धति को लेकर वे आलोचना मे प्रवृत्त होते हैं। कवियो के गुण, दोपों की उद्भावना करना ही उनका लक्ष्य नही रहता। 'जायसी', 'तुलसी' आदि कवियो की आलोचना करते समय उन्होंने, युगीन प्रभाव, साहित्यिक परम्परा और कवियों की अतर्वर्त्ती प्रेरणाओ को भी ध्यान मे रखा है, काव्य के वाह्यांग को सुसज्जित करने वाले उपकरणो का विवेचन भी यथावसर करते चले गये हैं। इन सभी तत्त्वों को एक साथ समन्वित कर देने के कारण उनकी आलोचना मे पूर्णता और समृद्धि आ गई है।

लेकिन इन तत्त्वो का समन्वय मात्र ही आलोचना को मूल्यवान् नही बना सकता। आचार्य के पास एक ऐसी रस-दृष्टि भी है जो कार्य-कारण शृंखला की अपेक्षा नही रखती और सहज भाव से रचना के मूल सौन्दर्य तक जा पहुँचती है। तर्कों की योजना तो वाद मे होती है और उसमे विवाद के लिए गुंजाइश भी रहती है। किन्तु उक्त प्रकार की रस-दृष्टि तो अक्सर विवादातीत होती है। जहाँ तक इस रस-दृष्टि का प्रश्न है आचार्य शुक्ल की तुलना मे हिन्दी का अन्य आलोचक नही ठहर सकता। इसी दृष्टि के कारण, उनकी आलोचना के सब से मूल्यवान और मार्मिक प्रसग वे हैं जहाँ वे कवियों की भाव-सम्पत्ति का मूल्याकन करते हैं। इस दृष्टि की सम्पन्नता के लिए मनोविज्ञान का कितना अधिक आश्रय उन्होने लिया था यह हम पहले ही दिखा चुके है। कवियो के भाव-जगत् मे प्रवेश करके अमूल्य रत्नों को चुन लाना और पाठको के समक्ष सहज भाव मे प्रस्तुत कर देना उनके बाये हाथ का खेल है।

उनकी सारी व्यावहारिक आलोचनाओं को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते है—पहले वर्ग में वे समीक्षाएँ हैं जो 'तुलसी' 'जायसी' आदि के ऊपर लिखी गई हैं और दूसरे वर्ग में वे जो काव्यधाराओं—छायावाद आदि—की मीमांसा के रूप में हैं। उक्त वादो की आलोचना में भी शुक्लजी की साहित्यिक मान्यताओ का विनियोग ही दिखाई पड़ता है—सिद्धान्त-स्थापन उन्होने प्रायः नही किया। इसलिए वे भी व्यावहारिक आलोचनाओ के अन्तर्गत आ सकती है। यहाँ पहले विशिष्ट कवियों की समीक्षाओं पर विचार करके फिर काव्यधाराओ की आलोचना पर विचार किया जायेगा।

तुलसी की आलोचना :

शुक्लजी ने तुलसीदास की अपनी समीक्षा मे काव्य के अन्तरंग और बहिरंग का सम्यक् विश्लेषण करने के लिए, प्रारम्भ के आठ शीर्षको मे तुलसी की भक्ति-पद्धति, प्रकृति और स्वभाव, लोक-धर्म, धर्म और जातीयता का समन्वय, मंगलाशा, लोक-नीति और मर्यादावाद, शील, साधना और भक्ति तथा ज्ञान का विवेचन किया और बाद के सात अध्यायों (तुलसी की काव्य-पद्धति, उक्ति-वैचित्र्य, और 'भाषा पर अधिकार' आदि) मे तुलसी के कलापक्ष का उद्घाटन किया। दोनों पक्षो में अलग-अलग निरूपित हो जाने से तुलसी की आलोचना सर्वागपूर्ण हो गई है।

शुक्लजी की साहित्येतर मान्यताएँ भी अधिकतर इसी पुस्तक मे स्पष्ट हुई है। उन्होने तुलसीदास को ही लोक-धर्म का सच्चा व्याख्याता माना है। तुलसी की कृतियो की आन्तरिक परीक्षा करके ही लोक-धर्म का स्वरूप शुक्लजी ने निरूपित किया; उस सिद्धान्त को अपनी ओर से आरोपित नही किया। यह अवश्य था कि भारतीय साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य मनोविज्ञान की समन्वित पीठिका पर जिस नैतिकता की प्रतिष्ठा वे कर चुके थे, उसका उत्कृष्ट निर्वाह तुलसी-साहित्य मे मिला।

जैसा पहले कहा गया है, शुक्लजी की आलोचना का सबसे मूल्य-वान अंश भाव-निरूपण ही है। प्रस्तुत पुस्तक मे भी तुलसी की भावुकता का अलग से विवेचन किया गया है। इस विवेचन की प्रत्येक पक्ति बहुमूल्य है। जो प्रसग चित्त को द्रवित करने वाले है, उनका विवेचन उन्होने पूर्ण भावुकता और तन्मयता से किया है। जहाँ काव्य के मार्मिक प्रभाव को विवेचना का विषय बनाने मे वे असफल रहे वहाँ प्रभाववादी समीक्षक की भाँति केवल इतना ही कह सके कि—

"इस सफ़ाई के सामने हजारो वकीलों की सफ़ाई कुछ नहीं है। इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।"

पाठक देख सकते है कि ऊपर की पक्तियो मे विश्लेषण बिल्कुल नही है, केवल स्तवन का आवेग है। लेकिन ऐसी पंक्तियो की सख्या बहुत अधिक नही। निरूपण के लिए शुक्लजी ने प्रेम, शोक, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास आदि स्थायी भावो और ग्लानि, अमर्ष, श्रम आदि सचारी भावो को लिया है। 'आश्चर्य' से कुछ हल्का 'चकपकाहट' नाम का भाव भी उन्हे एक स्थान पर मिला और उसका बड़ा मार्मिक विवेचन उन्होने किया। इस भाव का अत्यन्त विस्तृत विवेचन शेंड ने अपनी पुस्तक 'फाउण्डेशन्स ऑफ कैरेक्टर' मे किया था, शुक्लजी को इस सचारी का सूत्र सम्भवतः वही से मिला।

भावो के लिए उत्कृष्ट उदाहरण चुनने मे जितनी सावधानी आचार्य शुक्ल ने रखी है उतनी अन्यत्र विरल है। उद्धृत पद्यो और व्याख्याओ मे अत्यन्त गूढ सामजस्य का विधान उनके द्वारा हुआ है जिसके फलस्वरूप विवेचन संतुलित और सम्पन्न हो गया है।

'शान्त' रस का निरूपण शुक्लजी अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी नही करते। सिद्धान्त विवेचन मे इस रस का छूट जाना खटकता नही किन्तु तुलसी, सूर, जायसी जैसे भक्त कवियो की आलोचना में भी

यदि इस रस का विवेचन न हो तो और कहाँ होगा। 'तुलसी की भावुकता' मे न तो कही 'निर्वेद' भाव का नाम है और न 'शान्त' रस का। 'मानस' से शान्त रस का उदाहरण दिया ही नही गया। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य और जीवन की रागमूलकता को स्वीकार करने के कारण, उन्होने संस्कृत के कुछ प्राचीन आचार्यो की भाँति, 'शान्त'को नही ग्रहण किया। काव्य को मनोमय कोश तक मानने का भी यह परिणाम हो सकता था, क्योकि उसमें आलम्वन के प्रति भाव का वेग या गति ही प्रधान रहती है। वेग-हीन प्रवृत्तियाँ तो निष्क्रियता ही उत्पन्न कर सकती है। किन्तु 'शान्त' रस को जिन लोगों ने काव्य और नाटक मे प्रतिष्ठा दी उनका दृष्टिकोण इससे भिन्न है—उन्होंने तपस्वी या साधक के व्यक्तित्व के अंकन को भी शान्त रस का उद्‌वोधक माना। धर्म-ग्रन्थों की परम्परा में पड़ने के कारण, 'मानस' मे ऐसे प्रसंग अनेक थे, किन्तु शुक्लजी का विश्वास उनकी रसात्मकता में, सम्भवत:, नही था।

भाव की स्थायी दशा और शील दशा का ध्यान रखते हुए शुक्लजी ने 'मानस' के चरित्रो का विकास मनोवैज्ञानिक पद्धति पर निरूपित किया है। भाव या राग तत्त्व की ओर, वीच-बीच मे, संकेत करते चलने के कारण, भरत, परशुराम, मंथरा आदि चरित्रो की मीमांसा बहुत पूर्ण हो गई है। पूर्ववर्त्ती आलोचक 'मानस' के पात्रो का गुणगान ही कर सके थे, काव्य-सीमा के भीतर उनके व्यक्तित्व का विकास निरूपित नही कर सके। अलंकारो के निरूपण की शास्त्रीय पद्धति भी 'गोस्वामी तुलसीदास' मे रखी गई है, किन्तु जैसी शुक्लजी की धारणा थी, अलंकार भावोद्‌वोधन के साधन-स्वरूप ही दिखाये गए हैं। तुलसी के पुराने आलोचकों की तरह उनका निरूपण केवल बाह्य अंग तक ही सीमित नही, अपितु काव्य की सार-सत्ता के साथ उसे एकाकार कर दिया गया है।

तुलसी-साहित्य की 'कुछ खटकनेवाली' बातों का अलग से उल्लेख किया गया है जिससे आलोचना के एकपक्षीय होने का कुछ परिहार हो जाता

है; किन्तु पाठको के मन मे यह इच्छा अवश्य उत्पन्न होती है कि इन बातों का केवल संकेत न देकर, विस्तृत विवेचन देना चाहिए था।

सूरदास की आलोचना :

'सूर' की आलोचना के सम्बन्ध मे ध्यान देने की बात यह है कि वह 'भ्रमरगीत-सार' की भूमिका के रूप मे लिखी गई थी। दुर्भाग्य से सूर-साहित्य की सम्यक और सर्वांगपूर्ण समीक्षा का अवसर आचार्य शुक्ल को नही मिला।

पडित विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है कि वे सम्पूर्ण 'सूरसागर' की वैसी ही आलोचना लिखना चाहते थे जैसी जायसी के काव्य की और इसके लिए 'सूरसागर' के अनेक पदो पर विचार-विमर्श के लिए टिप्पणियां भी जोड़ दी थी (ये टिप्पणियाँ आज उपलब्ध नही) परन्तु वे अपने जीवन मे उसे व्यवस्थित रूप न दे सके। लेकिन इस पर से यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि यदि वे सम्पूर्ण 'सूरसागर' की समीक्षा करते तो उनके निष्कर्षो में कोई विशेष अन्तर पडता। अपनी संक्षिप्त आलोचना में भी वे सूरदास की सभी प्रमुख साहित्यिक विशेषताओं का उद्घाटन कर गए है। लोक-मंगल की जिस साधनावस्था का अभाव उन्हें सूर में दिखाई पड़ा है, उसका कारण यह नही कि वे केवल 'भ्रमरगीत' को ही दृष्टि मे रखकर चल रहे थे, बल्कि इसलिए कि अनेक अनिवार्य कारणो से, जिनकी व्याख्या शुक्लजी ने ही कर दी है, 'सूरसागर' मे उस साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष का सौन्दर्य उभर ही नही सकता था 'भ्रमरगीत' की भूमिका के रूप मे प्रस्तुत होने का उस आलोचना के ऊपर इतना ही प्रभाव पडा है कि उसमे प्रधानतया सूर के सयोग और वियोग वर्णन के मार्मिक सौन्दर्य को ही उद्घाटित किया गया है और उदाहरण भी उन्ही प्रसगो से चुने गए है।

'सूर-साहित्य' को शुक्लजी ने लोक-मंगल की 'सिद्धावस्था' का निरूपक बतलाया है, इसीलिए उसका मूल प्रेरक भाव करुणा न होकर

प्रेम है। आनन्द की सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्यों में उनके अनुसार "नगाड़े की धमक, गर्जन-तर्जन और हुंकार नहीं, विप्लव, ध्वंस और हाहाकार नहीं, वेग और तेज की तिग्मिता नहीं" ; बल्कि "दीप्ति-माधुर्य और कोमलता की स्निग्ध भूमि है, लहलहाते सरस प्रसार और परिमल घटित पुष्पहास का कलकंठ कूजित क्षेत्र है, मद और उल्लास की मृदुल तरंगमयी संगीतधारा का मानस लोक है।" 'सूर' का काव्य-जगत् इसी 'दीप्ति, माधुर्य और कोमलता' के आलोक से उद्भासित है। "काव्य मे लोक-मंगल" पर अन्यत्र विचार करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि आनन्द की साधनावस्था को लेकर चलने वाले कवियो का 'करुणा' को ही बीज-भाव बनाना उचित है और सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्यो मे 'प्रेम' ही बीज-भाव के रूप मे होगा। यह स्पष्ट है कि 'सूरसागर' मे मूलप्रेरक भाव प्रेम है जो भगवान् के अलौकिक रूप और लीला की ओर उन्मुख है। प्रेम की नाना अन्तर्दशाओ का चित्रण ही सूरदास का लक्ष्य है। तब उनके साहित्य-विचार में करुणा और लोक-रक्षा से सम्बद्ध प्रश्नो को क्यो उठाया जाए, यह सवाल स्वतः ही उठता है। अपनी आलोचना के प्रारम्भ मे 'सूर' और तुलसी पर कुछ तुलनात्मक विचार प्रगट करके शुक्लजी ने लोकमंगल की भावना का अभाव सूर के पदो में निरूपित किया है और उनकी विशिष्ट काव्यगत दृष्टिभगी के कारणों का भी संक्षेप मे उल्लेख किया है। वे मानते है कि, "लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है" और इसीलिए जीवन की विकट और गम्भीर समस्याओं का लेखा-जोखा सूर-साहित्य में नही है। उनकी भक्ति में शील और शक्ति की उपासना नही है केवल सौन्दर्य के प्रति पूर्ण अनुराग और नि.शेष आत्म-समर्पण की लालसा है। लोक-रक्षा या लोक-कल्याण की दृष्टि से सूर-साहित्य का यह संकोच स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कोई यह सिद्ध करने का प्रयास नही करेगा कि लोक-रक्षा का विधान और अत्याचार के सम्पूर्ण विनाश का कर्मपक्ष भी सूरसागर मे उद्घाटित हुआ है। यह

लिखकर भी कि सिद्धावस्था के कवियो का 'प्रेम' को ही बीज-भाव मानना तथा सौन्दर्य और माधुर्य के प्रति पूर्णतया आकर्षित होना सर्वथा उचित है, जब शुक्लजी लोक-रक्षा और जीवन संघर्ष का अभाव सूर-सागर मे निरूपित करने लगते है तब उसका यही अर्थ हो सकता है कि वह सूरदास के साहित्य की एक उचित सीमा निर्धारित करके उसके अन्तर्गत ही आलोचना के सूत्रो का उपयोग करना चाहते हैं। हाँ, इस बीच मे एकाध प्रसंगो पर उनके तर्क विचित्र से लगते हैं जैसे यह कहना कि राम के प्रत्येक कर्म पर देवता जो पुष्पवर्षा करते है उसका मुख्य कारण यह है कि सम्पूर्ण लोक की मगल-कामना राम के सुकर्मो के साथ है परन्तु कृष्ण के 'गोचारण' और 'रासलीला' आदि का दर्शन करने के लिए जो देवगण एकत्र होते हैं वे केवल 'तमाशबीन' की तरह। ध्यान देने की बात है कि दोनो ही स्थानो पर देवताओं का एकत्र होना एक-सा ही है—पहले मे लोक-मंगल का उत्सव देखने के लिए (और कभी-कभी अपने स्वार्थो से प्रेरित होकर भी) और दूसरे में भगवान् के अपरूप लावण्य का साक्षात्कार करने के लिए। यह सूर और तुलसी का दृष्टिभेद ही है जो देवताओ को दो भिन्न रूपो मे प्रस्तुत करता है। जिस भावना से प्रेरित होकर सूर भगवान् के लोकरजनकारी रूप का वर्णन करते है उसी भावना से प्रेरित होकर उनके रूप-मुग्ध देवता भी लीला-दर्शन के लिए आ जाते है और यह निश्चित है कि सूर ने भगवान् का साक्षात्कार एक 'तमाशबीन' की तरह नही किया। यह बात स्वयं शुक्लजी की आगे लिखी हुई आलोचना से ही स्पष्ट हो गई है।

'सूर' की आलोचना मे शुक्लजी की प्रत्यालोचना का रूप भी दिखाई पड़ता है। वे आलोचको के उन 'इल्जामों' का उल्लेख करते हैं जो तुलसी पर लगाये गये है किन्तु जिनसे सूरदास बरी किये गए हैं। एक इल्जाम मिश्र बन्धुओं का यह था कि तुलसी बार-बार राम के ईश्वरत्व की ओर सकेत करते रहते है, और "यह बात भी ऐसे भोंडे प्रकार से वे सैकड़ों बार स्मरण दिलाते है कि जी उकता उठता है और यह

जान पड़ता है कि गोस्वामी जी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते हैं कि कितने ही वार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा······। यह बात सूरदास जी में नहीं है।"

शुक्लजी तुलसी के पक्ष को स्पष्ट करते हुए इसका उत्तर देते है कि 'मानस' मे श्रोता-वक्ता का ध्यान आकर्षित करने के लिए और कथाप्रवाह में डूबे हुए पाठकों को भगवान के 'अवतारत्व' का बोध कराने के लिए ही तुलसीदास राम के ईश्वरत्व का सकेत देते हैं, जो अत्यन्त स्वाभाविक एव आवश्यक है। सूर को याद दिलाने की आवश्यकता इसलिये नही पड़ती कि वे बराबर 'हरि', 'जनार्दन' आदि शब्दों का प्रयोग करते रहते है।

इस समाधान से हमारी परितृप्ति आज नही होती। वास्तव मे इसकी आवश्यकता ही नही प्रतीत होती क्योकि इस आधार पर तुलसी और सूर के काव्य में किसी प्रकार का भेद स्थापित करना सर्वथा असंगत है। भगवान् की ओर सकेत दोनो महाकवियों मे है और पर्याप्त मात्रा मे है। उनके काव्य की मूल प्रेरणा ही भक्ति है, फिर, यदि वे ईश्वर की ओर वारम्बार सकेत करते हैं तो इसमे बुराई ही क्या है? इसलिए आक्षेप और उसका उत्तर—दोनों अनावश्यक प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार यह कहना कि 'सूर' अपनी गोपियो से कृष्ण के लिये 'काले', 'कुटिल' आदि शब्दों का व्यवहार करा लेते हैं किन्तु तुलसी डर के कारण ऐसा नही करा पाते और इस पर से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि 'सूर' निर्भीक है और तुलसीदास चाटुकार, युक्ति-संगत नही माना जा सकता। मिश्र-बन्धुओ ने ही इससे मिलती-जुलती बात कही थी। उसका खंडन करने के लिए शुक्लजी ने लक्षणा-व्यञ्जना वाले तर्क का आयोजन किया। आज यह बताने की आवश्यकता नही है कि गोपियाँ यदि कृष्ण को 'काला' और 'कुटिल' कहती है तो उनका वास्तविक प्रयोजन क्या रहता है।

यह बहुधा कहा जाता है कि 'सूर' की आलोचना में शुक्लजी को अधिक उदार होना चाहिए था। यह बात सत्य है। सूरदास को यथोचित सहानुभूति उनसे नही मिली। इसका एक कारण तो यह बताया जाता है कि प्रेम के जिस लोक-कल्याणकारी रूप और भगवान् के शील-शक्ति सौन्दर्य समन्वित जिस लोक-रक्षक स्वरूप का आदर्श वे काव्य मे प्राप्त करना चाहते थे वह 'तुलसी' मे मिला किन्तु 'सूर' मे नही। वास्तव मे भाव-योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त जिसकी व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है, 'सूरसागर' के ऊपर लागू होकर लगभग उन्ही निर्णयों तक पहुँचा सकता है जो शुक्लजी ने निकाले है। लोकवाद तो उसी सिद्धान्त का एक पूरक अग है जिसका आधार लेकर उन्होने सूर-साहित्य की सीमा का विवेचन किया है। किन्तु सूर के प्रति उनकी अनुदारता इससे व्यक्त नही होती। वास्तव मे शुक्लजी से पहले आलोचको ने 'तुलसी' की निंदा अथवा 'सूर' की प्रशंसा में जो कुछ कहा था उस सबका प्रभाव, उनके उक्त दृष्टिकोण में दिखाई पड़ता है। ऊपर हमने मिश्र-बन्धुओ के दो आक्षेपो का उल्लेख किया है ऐसे निष्कर्ष अन्य आलोचको ने भी निकाले थे। शुक्लजी इन आक्षेपो का निराकरण करने मे ही अधिक कठोर हो गये है। तुलसी पर उनकी श्रद्धा थी, यह भी सिद्ध बात है—उनके पक्ष का समर्थन करने मे ही प्रकारान्तर से वे 'सूर' की कुछ विशेषताओ को आँखों से ओझल भी कर गये। आलोचको का उत्तर देने के जोश मे वे कवियों के महत्त्व को ही घटा गये। जहाँ-जहाँ उनकी आलोचना का 'लड़ाकू' रूप प्रकट हुआ है वहाँ-वहाँ यह बात साफ दिखाई पडती है।

यह पूछा जा सकता है कि एक युग-निर्माता समीक्षक के भीतर इतनी क्षुद्र संकीर्णता और खण्डन की इतनी आतुरता का होना क्या अनुचित नही है? इसके उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि राग-मुक्त समीक्षण सब समय संभव नही होता। यदि व्यक्ति अपने किसी सिद्धान्त के निर्माण और रक्षा मे तत्पर है तो किसी-न-

किसी के विचारो से उसका संघर्ष अवश्य होगा और तब उत्तेजना के लिये अवसर अवश्य ही निकल आयेगा; क्योकि व्यक्ति अंततः व्यक्ति ही है।

जायसी की आलोचना :

आचार्य शुक्लजी द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' सन् १९२३ मे प्रकाशित हुई। उसकी भूमिका के रूप मे उन्होने एक विस्तृत समीक्षात्मक प्रबन्ध भी जोड़ दिया जिसमे जायसी के काव्य की सागोपांग विवेचना की गई थी। यह सत्य है कि जितनी तन्मयता, लगन और निष्ठा के साथ शुक्लजी ने जायसी की आलोचना लिखी उतनी तन्मयता से और कवियों की नही। जायसी का अध्ययन अनेक दिशाओ मे आगे बढ़ता चला गया है और उनकी साधना-पद्धति और सूफी-भावना का पर्याप्त विश्लेषण हो चुका है किन्तु शुक्लजी की रसान्वेषिणी दृष्टि ने 'पदमावत' के वास्तविक सौन्दर्य का जो निरूपण किया वह अब तक सर्वमान्य है। जायसी के दर्शन और सिद्धान्त के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी आज बहुत बढ़ गई है किन्तु काव्य-रस का आस्वादन करने मे हम लगभग उसी स्तर पर हैं जहाँ शुक्लजी हमको छोड़ गए थे। उनके प्रभावशाली आलोचक व्यक्तित्व का यह प्रबल प्रमाण है।

'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका के प्रकाशित होने के पूर्व भी हिन्दी-आलोचना में 'पदमावत' आदि ग्रन्थों की चर्चा होती रहती थी और जायसी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रायः सभी आलोचक समर्पित किया करते थे किन्तु उनकी समीक्षा मे विवेचन की गहराई नही रहती थी। इसलिए पाठको के समक्ष कृति का सम्पूर्ण गौरव प्रकट नही हो पाता था।

ग्रियर्सन महोदय ने अपने इतिहास में 'पदमावत' के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए एक ओर उसकी कठिनाइयों की ओर संकेत किया और दूसरी ओर उसके काव्य-सौन्दर्य की ओर ध्यान दिलाया—

"I do not know a work more deserving of hard study than the Padmavat. It certainly requires it, for scarcely

यह बहुधा कहा जाता है कि 'सूर' की आलोचना में शुक्लजी को अधिक उदार होना चाहिए था। यह बात सत्य है। सूरदास को यथोचित सहानुभूति उनसे नही मिली। इसका एक कारण तो यह बताया जाता है कि प्रेम के जिस लोक-कल्याणकारी रूप और भगवान् के शील-शक्ति सौन्दर्य समन्वित जिस लोक-रक्षक स्वरूप का आदर्श वे काव्य मे प्राप्त करना चाहते थे वह 'तुलसी' मे मिला किन्तु 'सूर' मे नही। वास्तव मे भाव-योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त जिसकी व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है, 'सूरसागर' के ऊपर लागू होकर लगभग उन्हीं निर्णयों तक पहुँचा सकता है जो शुक्लजी ने निकाले हैं। लोकवाद तो उसी सिद्धान्त का एक पूरक अंग है जिसका आधार लेकर उन्होने सूर-साहित्य की सीमा का विवेचन किया है। किन्तु सूर के प्रति उनकी अनुदारता इससे व्यक्त नही होती। वास्तव मे शुक्लजी से पहले आलोचको ने 'तुलसी' की निंदा अथवा 'सूर' की प्रशंसा मे जो कुछ कहा था उस सबका प्रभाव, उनके उक्त दृष्टिकोण मे दिखाई पड़ता है। ऊपर हमने मिश्र-बन्धुओं के दो आक्षेपों का उल्लेख किया है ऐसे निष्कर्ष अन्य आलोचको ने भी निकाले थे। शुक्लजी इन आक्षेपो का निराकरण करने में ही अधिक कठोर हो गये है। तुलसी पर उनकी श्रद्धा थी, यह भी सिद्ध बात है—उनके पक्ष का समर्थन करने मे ही प्रकारान्तर से वे 'सूर' की कुछ विशेषताओ को आँखो से ओझल भी कर गये। आलोचको का उत्तर देने के जोश मे वे कवियों के महत्त्व को ही घटा गये। जहाँ-जहाँ उनकी आलोचना का 'लड़ाकू' रूप प्रकट हुआ है वहाँ-वहाँ यह बात साफ दिखाई पड़ती है।

यह पूछा जा सकता है कि एक युग-निर्माता समीक्षक के भीतर इतनी क्षुद्र संकीर्णता और खण्डन की इतनी आतुरता का होना क्या अनुचित नही है ? इसके उत्तर मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि राग-मुक्त समीक्षण सब समय संभव नही होता। यदि व्यक्ति अपने किसी सिद्धान्त के निर्माण और रक्षा मे तत्पर है तो किसी-न-

किसी के विचारो से उसका संघर्ष अवश्य होगा और तब उत्तेजना के लिये अवसर अवश्य ही निकल आयेगा ; क्योंकि व्यक्ति अंततः व्यक्ति ही है।

जायसी की आलोचना :

आचार्य शुक्लजी द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' सन् १९२३ मे प्रकाशित हुई। उसकी भूमिका के रूप मे उन्होने एक विस्तृत समीक्षात्मक प्रबन्ध भी जोड़ दिया जिसमें जायसी के काव्य की सागोपांग विवेचना की गई थी। यह सत्य है कि जितनी तन्मयता, लगन और निष्ठा के साथ शुक्लजी ने जायसी की आलोचना लिखी उतनी तन्मयता से और कवियों की नही। जायसी का अध्ययन अनेक दिशाओ मे आगे बढ़ता चला गया है और उनकी साधना-पद्धति और सूफी-भावना का पर्याप्त विश्लेषण हो चुका है किन्तु शुक्लजी की रसान्वेषिणी दृष्टि ने 'पदमावत' के वास्तविक सौन्दर्य का जो निरूपण किया वह अब तक सर्वमान्य है। जायसी के दर्शन और सिद्धान्त के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी आज बहुत बढ़ गई है किन्तु काव्य-रस का आस्वादन करने मे हम लगभग उसी स्तर पर हैं जहाँ शुक्लजी हमको छोड़ गए थे। उनके प्रभावशाली आलोचक व्यक्तित्व का यह प्रबल प्रमाण है।

'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका के प्रकाशित होने के पूर्व भी हिन्दी-आलोचना में 'पदमावत' आदि ग्रन्थो की चर्चा होती रहती थी और जायसी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रायः सभी आलोचक समर्पित किया करते थे किन्तु उनकी समीक्षा मे विवेचन की गहराई नही रहती थी। इसलिए पाठको के समक्ष कृति का सम्पूर्ण गौरव प्रकट नही हो पाता था।

ग्रियर्सन महोदय ने अपने इतिहास मे 'पदमावत' के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए एक ओर उसकी कठिनाइयो की ओर सकेत किया और दूसरी ओर उसके काव्य-सौन्दर्य की ओर ध्यान दिलाया—

"I do not know a work more deserving of hard study than the Padmavat. It certainly requires it, for scarcely

यह बहुधा कहा जाता है कि 'सूर' की आलोचना में शुक्लजी को अधिक उदार होना चाहिए था। यह बात सत्य है। सूरदास को यथोचित सहानुभूति उनसे नही मिली। इसका एक कारण तो यह बताया जाता है कि प्रेम के जिस लोक-कल्याणकारी रूप और भगवान् के शील-शक्ति सौन्दर्य समन्वित जिस लोक-रक्षक स्वरूप का आदर्श वे काव्य मे प्राप्त करना चाहते थे वह 'तुलसी' मे मिला किन्तु 'सूर' मे नही। वास्तव मे भाव-योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त जिसकी व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है, 'सूरसागर' के ऊपर लागू होकर लगभग उन्ही निर्णयों तक पहुँचा सकता है जो शुक्लजी ने निकाले है। लोकवाद तो उसी सिद्धान्त का एक पूरक अंग है जिसका आधार लेकर उन्होंने सूर-साहित्य की सीमा का विवेचन किया है। किन्तु सूर के प्रति उनकी अनुदारता इससे व्यक्त नही होती। वास्तव मे शुक्लजी से पहले आलोचको ने 'तुलसी' की निंदा अथवा 'सूर' की प्रशंसा में जो कुछ कहा था उस सबका प्रभाव, उनके उक्त दृष्टिकोण मे दिखाई पड़ता है। ऊपर हमने मिश्र-बन्धुओं के दो आक्षेपो का उल्लेख किया है ऐसे निष्कर्ष अन्य आलोचकों ने भी निकाले थे। शुक्लजी इन आक्षेपों का निराकरण करने में ही अधिक कठोर हो गये है। तुलसी पर उनकी श्रद्धा थी, यह भी सिद्ध बात है—उनके पक्ष का समर्थन करने मे ही प्रकारान्तर से वे 'सूर' की कुछ विशेषताओं को आँखो से ओझल भी कर गये। आलोचको का उत्तर देने के जोश मे वे कवियो के महत्त्व को ही घटा गये। जहाँ-जहाँ उनकी आलोचना का 'लड़ाकू' रूप प्रकट हुआ है वहाँ-वहाँ यह बात साफ दिखाई पडती है।

यह पूछा जा सकता है कि एक युग-निर्माता समीक्षक के भीतर इतनी क्षुद्र संकीर्णता और खण्डन की इतनी आतुरता का होना क्या अनुचित नही है? इसके उत्तर मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि राग-मुक्त समीक्षण सब समय संभव नही होता। यदि व्यक्ति अपने किसी सिद्धान्त के निर्माण और रक्षा मे तत्पर है तो किसी-न-

प्रेम-वर्णन की प्रणालियो को वे चार वर्गो मे बाँट देते है और पदमावत की प्रेम-पद्धति को उस चौथे वर्ग मे रखते हैं जिसमे गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन आदि से नायक के भीतर 'राग' का उदय दिखाया जाता है। प्रेम के इस रूप को शुक्लजी स्वाभाविक नही समझते और इसे प्रारम्भ मे लोभ-मात्र ही समझते है। 'रतनसेन' का प्रारम्भिक 'राग' केवल लोभ ही है। उसी प्रकार 'पूर्वराग' को भी वे बहुत ऊँचा स्थान नही देते। उनकी दृष्टि मे केवल विवाह के उपरान्त विकसित होने वाला गार्हस्थिक लोकपक्षीय प्रेम ही आदर्श प्रेम है। वाल्मीकि रामायण मे ही उन्हे इस प्रेम का परम समुज्ज्वल रूप दिखाई पडा था, कदाचित् इसीलिए उस ग्रन्थ को वे आर्य-काव्य का आदर्श मानते थे। शुक्लजी का यह विचार जायसी की समीक्षा लिखने के लगभग २० वर्ष पूर्व प्रकट हो चुका था जब अपनी कहानी मे गार्हस्थिक प्रेम की महत्ता बताते हुए उन्होने कहा था कि "इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्त्तव्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। उसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है।" उनके ये विचार काव्य-विवेचन मे सर्वत्र दिखाई पडते है। जायसी के 'पदमावत' मे भी यदि दाम्पत्य-प्रेम की मनोहर झलक न आ जाती और केवल सूफी-शैली पर ही उसका महत्त्व दिखलाने का प्रयास किया जाता तो शुक्लजी उसकी सराहना नही कर पाते। 'पदमावत' की प्रेम-पद्धति से वे सर्वांश मे सहमत नही हैं। कम-से-कम उसका प्रारम्भिक रूप उन्हे अवश्य खटका है किन्तु उसका 'एकांतिक' न होना उन्हे रुचिकर लगा—

"जायसी एकांतिक प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता के बीच-बीच में जीवन के और-और अगों के साथ भी उस प्रेम के सम्पर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गये हैं, इससे उनकी प्रेम-गाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विछिन्न होने से बच गई है।"

यदि जायसी के स्थान पर कोई मुक्तककार सूफी कवि शुक्लजी के समक्ष आ जाय तो वे तनगुन उसकी कद्र नहीं कर सकते । पंडित नन्द-दुलारे वाजपेयी का यह कहना ठीक है कि 'हाफिज, रूमी या शेखसादी' जैसे बड़े-बड़े कवि भी उन्हें अच्छे नहीं जचेंगे । कारण यह है कि इन कवियों में प्रेम के उस लोकपक्षीय स्वरूप का चित्रण नहीं मिल सकता जो शुक्लजी का प्रतिष्ठित आदर्श था । लेकिन फारसी के मुक्तककार कवियों तक ही यह बात सीमित नहीं है । शुक्लजी के विचार में तो "फारसी की मसनवियों का प्रेम एकांतिक, लोक-बाह्य और आदर्शात्मक (Idealistic) होता है ।" इससे प्रतीत होता है कि शुक्लजी के विरोध का कारण मुक्तक या प्रबन्ध की शैली-मात्र नहीं है । वे प्रेम-पद्धति के मूल प्रश्न पर ही मतभेद रखते हैं । यदि जायसी ने 'मसनवियों' की परम्परा का हू-ब-हू पालन किया होता तो कदाचित् शुक्लजी की श्रद्धा उनके प्रति बहुत घट जाती ।

प्रेम के लोकपक्षीय स्वरूप का विवेचन करने में शुक्लजी अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते थे । चुने हुए मार्मिक उद्धरणों को लेकर उसका विस्तृत निदर्शन जितनी सफलता के साथ वे कर सकते थे, उतनी सफलता के साथ कम ही आलोचक कर पाएँगे । जायसी द्वारा चित्रित प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—की बड़ी रमणीय व्याख्या उन्होंने की है । नागमती के वियोग-वर्णन को पढ़कर उनका चित्त द्रवित हो गया है—बहुत विचार करने के बाद भी उनके लिए इस बारहमासे के "सौन्दर्य का बहुत-कुछ हेतु अनिर्वचनीय ही रह जाता है ।" लेकिन उत्साह, क्रोध आदि का जो कुछ निर्वचन शुक्लजी ने किया वह [illegible] और हिन्दी-साहित्य के लिए अमूल्य उपहार है । [illegible] की पहेली नहीं है इसलिए शुक्लजी की भाव-

[illegible] काव्य के रचनात्मक उपादानों [illegible] निरूपण किया । तुलसी की

आलोचना मे भी इन प्रसंगों का इतना अधिक विस्तार नही दिखाई पड़ता । इसका कारण यह जान पड़ता है कि जायसी अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवि थे और उनकी रचना का वास्तविक सौंदर्य अधिकांश पाठकों के लिए अगोचर ही था । इस विस्तृत-मीमांसा मे कोई चीज़ छूटने नही पाई । सिद्धान्त और दर्शन पर एक ओर और जायसी की भाषा पर दूसरी ओर बड़े गम्भीर विचार प्रकट किये गए है । इस सर्वांगपूर्ण समीक्षा में काव्य के 'रूप' और 'वस्तु' पक्ष की इतनी बारीक छान-बीन हुई है कि यह भूमिका हिन्दी-आलोचना का उत्कृष्टतम प्रमाण बन गई है । शुक्लजी की आलोचना का पूर्ण वैभव इस भूमिका मे ही दिखाई पड़ता है ।

'छायावाद' का विवेचन :

छायावादी काव्य-धारा को आचार्य शुक्ल ने अपनी सहानुभूति नही दी, ऐसा अनेक आलोचकों ने कहा है । वे उसके विरोधी थे, यह भी सिद्ध किया जाता है । लेकिन इस बात पर बल नही दिया जाता कि उसके कुछ तत्त्वो की उन्होने पर्याप्त हिमायत की है । छायावादी कविता की कुछ चुनी हुई त्रुटियों का विरोध ही शुक्ल जी करते रहे, उसकी कुछ प्रवृत्तियो के प्रति वे असहिष्णु भी थे । आगे चलकर, जब नूतन काव्य-धारा का रूप निखर आया और उसने पाठकों के हृदय पर सिक्का जमा लिया, तब उन्होने उसके साथ लगभग समझौता-सा कर लिया—

"छायावाद का रूप-रंग बनाकर आजकल जो बहुत-सी कवितायें निकली है, उनमें कुछ तो बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और सच्ची रहस्यभावना लेकर चली है, कुछ वाद ग्रस्त और कृत्रिम हैं और अधिकांश कुछ भी नहीं है । शुद्ध काव्य दृष्टि का प्रचार हो जाने पर पूर्ण आशा है कि कूड़े-करकट के ढेर में से सच्ची स्वाभाविक रहस्य-भावना

अपना मार्ग अवश्य निकाल लेगी और हिन्दी-काव्य-क्षेत्र की यह शाखा भी अपनी एक स्वतन्त्र भारतीय विभूति का प्रकाश करेगी।"

[चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १५२]

आचार्य ने इस नई काव्य-धारा के प्रति ऐसी आशा बाँध कर ही नये कवियों से अत्यन्त 'प्रेमपूर्वक' तीन बातों का अनुरोध किया।

(१) "पहली बात तो यह कि 'वाद' का साम्प्रदायिक पथ छोड़कर, अपनी सब विशेषताओं के सहित, प्रकृत काव्य भूमि पर आयें जिस पर संसार के बड़े-बड़े कवि रहे हैं और है।"

(२) "दूसरी बात यह कि अनुकरण के लिए वे बँगला, अंग्रेजी आदि दूसरी भाषाओं की ओर ताकना बिल्कुल छोड़ दें और अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से पूरा काम लें"

(३) "तीसरी बात है लाक्षणिक प्रयोगों में सावधानी"

[चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १४८-४९]

ऊपर के उदाहरणों को देखने से विदित हो जाता है कि शुक्लजी ने एक हितैषी आचार्य की भाँति नई पीढ़ी का पथ-प्रदर्शन ही किया है। उनके सुझावों मे ईमानदारी और सहानुभूति भी है। दूसरी ओर ऐसे उदाहरणों की भी कमी नही जिनमें नये कवियों की कठोर आलोचना की गई हो और किसी एक त्रुटि को लक्ष्य करके उन पर क्रूर व्यंग किये गये हो। आचार्य के इन दोनों प्रकार के व्यवहारो को देखकर ऐसा लगता है जैसे एक सजग पिता अपने पुत्र का लालन-पालन तो करता हो किन्तु कोई गलती करने पर क्षमा करना न जानता हो। उसे इतना दुलार भी न देता हो जिससे आगे चलकर लडका बिगड़ जाय। उनके साथ छायावादी काव्य का सम्बन्ध बहुत कुछ इसी प्रकार का है।

आचार्य शुक्ल ने छायावादी कविता के शैशव और यौवन दोनो देखे। उसके विकास के समानान्तर ही उनका दृष्टिकोण भी बदलता चला गया, किन्तु छायावाद की जिन विशेषताओं को उन्होंने प्रारम्भ में ही

लक्षित किया, उनका निरूपण अन्त तक करते रहे। उस कविता के भीतर वे विशेषताएँ सचमुच थी।

छायावादी कविता के विषय मे शुक्लजी के विचार सर्वप्रथम,'काव्य मे रहस्यवाद' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हुए जो सन् १९२८ मे छपी थी। तब तक 'पल्लव' प्रकाशित हो चुका था और उसकी भूमिका जो सचमुच छायावाद का घोषणापत्र कहला सकती है सामने आ चुकी थी। उससे पहले नयी काव्य-धारा का विश्लेषण एकाध निबन्धो मे ही हो सका था। उनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्राचीन निबन्ध श्री मुकुटधर पाण्डेय का माना जाता है जो सन् १९२० ई० में 'श्री शारदा' नाम की पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। मुकुटधर जी के निम्नांकित वाक्यो से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आलोचको की छायावाद-सम्बन्धी धारणायें क्या थी—

"अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग-साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जायेंगे कि यह शब्द 'मिस्टिसिज्म' के लिए आया है।"

'प्राकृतिक दृश्य और घटनाये सांकेतिक रूप से अदृश्य तथा अव्यक्त के प्रकाशन में साहाय्य पहुँचाती हैं।'

"छायावाद की आवश्यकता हम इसीलिए समझते हैं कि उससे कवियो को भाव प्रकाशन का नया मार्ग मिलेगा।"

कहने की आवश्यकता नही कि उस समय तक नई कविता की रूप-रेखा उभर कर सामने नही आई थी—अधिकतर उसकी अस्पष्टता एव दुरूहता की ही चर्चा हुआ करती थी। ऐसी अवस्था में पाण्डेय जी के उक्त निष्कर्ष बडे महत्त्व के है। यह तो नही कहा जा सकता कि इन निष्कर्षों के आधार पर शुक्लजी ने छायावाद को समझा किन्तु इतना साफ दिखाई पड़ता है कि नयी काव्य-धारा के सम्बन्ध में उनके लगभग वही विचार हैं जो पाण्डेय जी के। छायावादी

कविता की विपय-वस्तु के रूप मे ही उन्होने 'रहस्य-भावना' को देखा था, लेकिन रहस्यवाद का विश्लेषण करने के पूर्व 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' (१९२३) नामक जो निबन्ध वे 'माधुरी' मे लिख चुके थे उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-चित्रण की एक विशिष्ट प्रणाली थी जिसकी अवेहलना नई काव्य-धारा मे हो रही थी। इस लेख का जिक्र छायावाद के प्रकरण मे होना आवश्यक है। यद्यपि इसमें नये आन्दोलन का नाम कही नही आया और न उसके अन्तर्गत होने वाले प्रकृति-चित्रण का ही कही स्पष्ट उल्लेख है तथापि इसके प्रकाशन-काल को देखने ही से जान पडता है कि नई कविता के प्रकृति-चित्रण को देखकर ही शुक्लजी को उद्दीपन रूप मे किया गया पुराना चित्रण याद हो आया। उन्होने जब आलम्बन रूप मे किये गए चित्रण की सराहना की तब छायावादी कविता का ध्यान भी उन्हे अवश्य रहा होगा। उन्होने नूतन काव्य-धारा के भीतर स्वतन्त्र सश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण का अभाव आगे चलकर भी देखा। यह असंभव है कि सन् १९२३ तक आते-आते वे इस अभाव को न भांप चुके हो। निबन्ध के कुछ वाक्य इतने सांकेतिक है कि एक ओर तो वे उद्दीपन रूप मे वर्णित प्राचीन प्राकृतिक दृश्यो की ओर इंगित करते हैं और दूसरी ओर नये कवियो को भी इस प्रकार की अलंकृति से बचते रहने की चेतावनी देते हैं। निम्नांकित वाक्य ऐसे ही है—

"साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण योजना करना सहृदय और कला-कुशल कवि का ही काम है। साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी है। साधारण के बीच में ही असाधारण की अभिव्यक्ति हो सकती है" [चिन्तामणि भाग २; पृष्ठ ९]

उक्त वाक्यो में असाधारण शब्द द्वारा छायावाद के रहस्यमय परोक्ष संकेतो की ओर भी इंगित किया गया है।

छायावादी कविता की वैयक्तिकता को भी आचार्य शुक्ल ने कुछ अस्पष्ट रूप में ही सही, उसी समय लक्ष्य किया था। उसको उन्होने 'अहंकार' का ही एक रूप समझा जिसका विसर्जन सच्चे कवियों के लिए अनिवार्य है।

"जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फारस की उस महफ़िली शायरी का संस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है।" [चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ ७]

ऊपर के उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उन्होने छायावाद की उभरती हुई काव्यधारा की एक प्रवृत्ति—उद्दीपन रूप मे प्रकृति-चित्रण और उसके माध्यम से अज्ञात की ओर संकेत—का प्रारंभ मे,ही विरोध किया था। आगे चलकर जब वे आलम्बन-रूप मे प्राकृतिक दृश्यों को देखने-दिखाने का विशेष आग्रह करने लगे तब यही विरोध अधिक स्थूल और प्रत्यक्ष हो गया।

'काव्य मे रहस्यवाद' नामक जिस निबन्ध का उल्लेख ऊपर किया गया है, वह लगभग पाँच वर्ष बाद लिखा गया। तब तक नयी कविता का केवल रूप ही नही निखर चुका था अपितु उसके सम्बन्ध में बहुत कहा-सुना भी जा चुका था। शुक्लजी की दृष्टि मे वह 'कहा-सुना' अधिकांश ऊट-पटाग या 'बेसिर-पैर' का था। उन्होने अपने निबन्ध के लिखने का उद्देश्य ही यह बताया कि नई काव्यधारा के सम्बन्ध मे फैली हुई भ्रान्त धारणाओ का खण्डन किया जाये। आचार्य शुक्ल अपने उद्देश्य में सफल हुए अथवा नही, यह एक अलग प्रश्न है किन्तु 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' की अनेक त्रुटियो का दिग्दर्शन उन्होने अवश्य कराया। छायावाद की वास्तविक विषय-वस्तु से रहस्यवाद का क्या और कैसा सम्बन्ध था, यह विवेचन यहाँ प्रकरण-प्राप्त नही, केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि 'असीम' और 'अज्ञात' के प्रति बार-बार संकेत

करते रहने की प्रवृत्ति तत्कालीन कवियो मे वहुत थी। अज्ञात के प्रति प्रेम या लालसा की अभिव्यक्ति एक प्रकार से तत्कालीन काव्यधारा का 'फैशन' वन गई थी। शुक्लजी के निवन्ध का अधिकाश भाग इस 'फैशन-परस्ती' की निन्दा में ही लग गया है। लेकिन अनेक समर्थ कवि मार्मिक रहस्यमय संकेतों का उदाहरण भी प्रस्तुत कर रहे थे, इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता। शुक्लजी भी किसी सीमा तक इस वात को स्वीकार करते है। वस्तुतः, किसी नये प्रभावशाली आन्दोलन के प्रवाह मे वहुत सारा कूडा-करकट वहकर चला ही आता है। उसे प्रवाह से अलग करना प्रत्येक विचारशील प्राणी का कर्त्तव्य है किन्तु उसके ही कारण समूची काव्यधारा का विरोध करने लगना अनुचित माना जायेगा। शुक्लजी पर ऐसे विरोध का दोप नही लगाया जा सकता। उन्होने 'प्रवाह' को स्वच्छ वनाने का ही प्रयास किया, उसे रोकने का नही। यह अवश्य देखा गया कि गन्दगी को दूर करने के लिए उन्हे कभी-कभी धारा के वीच मे भी आकर खडा होना पड़ा जिससे सशक्त तरगो को भी अपना मार्ग वनाने मे कठिनाई का अनुभव हुआ।

सन् १९३० के आस-पास छायावाद के भीतर से ही काव्य की वस्तून्मुखी धारा फूट पड़ी। लोक-जीवन की वहुत प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति उक्त कविता मे दिखाई पड़ने लगी। तव शुक्लजी का 'आक्रोश' कुछ कम हुआ और 'नई कविता' के भीतर उन्हे अच्छी सम्भावनायें दिखाई पडी। इन्दौर वाले भापण और 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे उनका यही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण मिलता है। वह दवी जवान से कवियों की सराहना भी कर गये हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि उग्र विरोध से प्रारम्भ करके वे, 'छायावाद' की विवेचना में, मृदुल सहानुभूति तक आ पहुँचे थे। दूसरी ओर से देखते हुए यह वात यो भी कही जा सकती है कि छायावादी कविता का स्वरूप निखरते-निखरते लगभग वैसा ही हो गया जैसा शुक्लजी किसी उच्चकोटि के काव्य के लिए आवश्यक समझते थे।

वस्तुस्थिति तो यही है कि किसी सीमा तक वे 'छायावाद' की ओर झुके अवश्य, किन्तु 'छायावाद' स्वयं भी उनकी मान्यताओ के निकट पहुँच आया। 'नयी कविता' उनके सिद्धान्तों के साँचे मे अपने आप वैठने योग्य वन गई। उसकी रहस्यमयता कम हुई और उसके भीतर गोचरता एवं लोकवादिता का विधान हुआ। हिन्दी-आलोचना में अभी तक इस प्रश्न की उपेक्षा ही की गई है कि 'छायावाद' के भीतर घटित होने वाले इस परिवर्तन में आचार्य शुक्ल का कितना योग है। उनके विरोध का असर कहाँ पड़ा, इसका अनुसंधान होना ही चाहिए। आखिर, एक समर्थ और मान्य आचार्य की बात नयी पीढी को कहीं-न-कही तो अवश्य ही प्रभावित कर गई होगी।

आचार्य शुक्ल और परवर्त्ती आलोचक—

शुक्लजी का निधन सन् १९४१ ई० मे हुआ, लेकिन शुक्लोत्तर समीक्षा से हम केवल उसी समीक्षा का अर्थ नही लेते जो उसके बाद लिखी गई। वास्तव मे शुक्लजी के रहते ही हिन्दी आलोचना मे नूतन प्रवृत्तियो और शैलियो का उदय होने लगा था। 'प्रभाववादी' समीक्षा के बढते हुए प्रभाव का उल्लेख उन्होने स्वयं किया है। आलोचना की 'प्रगतिवादी' शाखा भी महायुद्ध के पूर्व ही प्रकट हो चुकी थी। इसके साथ ही नूतनतम मनोविज्ञान के आधार पर रस-शास्त्र की नई संभावनाओं की जाँच शुरू हो गई थी। आज विभिन्न प्रवृत्तियों के समीक्षकों द्वारा विपुल समीक्षा-साहित्य प्रस्तुत किया जा चुका है। सबका विवरण एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ मे ही आ सकेगा। उन प्रवृत्तियों और आलोचको की कृतियो का मूल्यांकन करना हमारा लक्ष्य भी नही। हमे केवल यह देखना है कि 'शुक्लोत्तर' समीक्षा के ऊपर शुक्लजी का क्या ऋण है और किस सीमा तक उनके द्वारा स्थापित मान-दण्डो का निर्वाह अथवा परिष्कार दिखाई पडता है।

इस सम्बन्ध मे एक बात निर्विवाद है कि साहित्य के मूल्याकन की कसौटी चाहे जो हो किन्तु समीक्षण की प्राय: वही प्रक्रिया सभी उत्तर-वर्त्ती आलोचको ने अपनाई जिसकी प्रतिष्ठा सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल द्वारा हुई थी। हिन्दी-आलोचना की पुरानी परिपाटी शुक्लोत्तर-युग के प्रौढ लेखको मे प्राय नही दीखती। साधारण लेखकों मे भी विवेचन की अद्भुत क्षमता विकसित होने लगी है। यदि शुक्लजी अपने सत्प्रयास द्वारा आलोचना की व्यवस्थित पद्धति और गम्भीर विवेचन की परम्परा न स्थापित कर गये होते तो नूतन समीक्षा संप्रदायो के विकास की उतनी सम्भावना न हो पाती।

उनकी रसवादी समीक्षा का ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष विशेष रूप से प्रगतिवादी समीक्षा में उद्घाटित हुआ—किन्तु दोनों की जीवन-दृष्टि मे जो मौलिक भेद था उसे मिटाया नहीं जा सकता। प्रगतिवाद का आधार मार्क्स का सुचिन्तित जीवनदर्शन था जो साहित्य के भीतर अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में गृहीत होता रहा। इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि मार्क्सवादी सिद्धान्त-सूत्रों का प्रयोग करते-करते प्रगतिवादी लेखक उसके यांत्रिक विनियोग तक जा पहुँचे जहाँ उस आलोचना का उद्देश्य ही नष्ट हो गया ; किन्तु यह सबको स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवन और साहित्य के सम्बन्धो के ऊपर इस आलोचना ने नया प्रकाश डाला। साहित्य के साथ जीवन के घनिष्ट सम्बन्ध का बहुत वैज्ञानिक विवेचन भी इस समीक्षा मे सम्भव था, यद्यपि परमुखापेक्षिता के कारण वह सब समय हो नही सका। इस धारा की वास्तविक प्रेरणा शुक्लजी की आलोचनाओं मे नही ढूँढ़ी जा सकती—अनेक अंशों मे यह उनकी विरोधिनी भी रही ; क्योकि इसका मूल जीवन-दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था जो एक ओर तो निरीश्वरवादी था और दूसरी ओर वर्ग-सघर्प को उत्तेजना देता रहता था। किन्तु साहित्य के भीतर लोक-पक्ष का महत्त्व जितना अधिक इस दर्शन ने बताया उतना और किसी ने नही। यह दूसरी बात है कि इसका लोक-पक्ष शुक्लजी के लोक-धर्म से बहुत दूर था। शुक्लजी के साथ उस समीक्षा की समता इस बात में भी दिखाई पड़ती है कि 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' में दोनों को लगभग एक ही प्रकार की त्रुटियाँ दिखाई पड़ी। दोनो ने ही उसके भीतर वस्तुवादिता की माँग की। यह बड़े विलक्षण संयोग की बात थी कि जब 'पंत' जैसे कवि छायावाद की कुहेलिका से मुक्त होकर वास्तविकता की धरती की ओर झुके और धीरे-धीरे प्रगतिवाद की भूमिका तैयार होने लगी तब इन्दौर वाले भाषण मे शुक्लजी ने बताया कि अब छायावाद के भीतर 'अर्थ-भूमि' का अच्छा विस्तार हो रहा है। और 'युगान्त' की समीक्षा करते हुए उन्होने लिखा है कि—

भीतर प्रारम्भ से ही रही है, इसीलिये छायावाद के प्रारम्भिक विवेचकों मे शुक्लजी ने सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उन्ही को दिया है। नगेन्द्रजी मूलतः 'रसवादी' हैं, इसलिये उनके ऊपर अलग से विचार करना ही समुचित है।

छायावाद के प्रबल पृष्ठ-पोषक होते हुए भी पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान प्रभाववादी समीक्षको मे नही है। काव्य-कृतियों का गम्भीर विश्लेषण उनकी आलोचनाओं मे प्रारम्भ से ही मिलता है। उन्होने अपने आपको आलोचना के किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या शैली मे आबद्ध नही होने दिया। पुराने आचार्यो और विशेषकर आचार्य शुक्ल के लगातार विरोध करते रहने पर भी उन्होने अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था मे 'छायावाद' का समर्थन किया था। उनका यह कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। 'छायावाद' के उत्थान के साथ-साथ उनका नाम बराबर लिया जाता रहेगा। अन्य अनेक प्रश्नों पर भी वे शुक्लजी से मतभेद रखते रहे है किन्तु इसमे संदेह नही कि उनके ऊपर भी आचार्य शुक्लजी की समीक्षा का ऋण है। उन्होने स्वयं स्वीकार किया है कि शुक्लजी की "लिखी हुई पुस्तकें और उनके तैयार किए हुए विद्यार्थी (जिनमें मै भी एक होने का गर्व करता हूँ) उनका संदेश स्कूलों और कॉलेजों, पत्रों और पत्रिकाओं तथा व्यापक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में सुनाया करते हैं।" किन्तु वाजपेयीजी के विचार शुक्लजी के विचारो की प्रतिध्वनि मात्र नही— उन्होने शुक्लजी द्वारा उठाये हुए प्रश्नो की नई संभावनाओं पर विचार किया है और साहित्य को उसकी परिस्थितियो के बीच रखकर सहानुभूतिपूर्ण ढग से विचार करने पर बल दिया है। डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र के अनुसार वाजपेयी जी ने, (क) विश्लेषणात्मक पद्धति को आगे बढ़ाकर पूर्णत. निगमनात्मक बनाया, (ख) वर्ण-व्यवस्था और नीतिवाद को व्यापक लोक-मंगल मे परिणत किया, (ग) साहित्य को उत्थानमूलक सांस्कृतिक चेतना का जन्मदाता बताया, और (घ) भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य संवेदनीयता के साथ सामंजस्य स्थापित किया। उक्त चारों दिशाओं

"कवि की सौन्दर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप मे परिणत हुई है। अब तक कवि लोक-जीवन के वास्तविक शीत और ताप से अपने हृदय को बचाता-सा आता रहा; अब उसने अपना हृदय खुले जगत के बीच रख दिया है कि उस पर उसकी गतिविधि का सच्चा और गहरा प्रभाव पड़े।"

लेकिन जीवन की वास्तविकता को किसी 'वाद' के माध्यम से ग्रहण करना वे काव्य के लिये लाभ-प्रद नही समझते। 'साम्प्रदायिक दृष्टि' चाहे रहस्यवाद मे हो चाहे लोकवाद मे, सदैव निन्दनीय है। उन्होंने 'पंत' की वाद-मुक्त दृष्टि की ही सराहना की है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य-साधना को भी एक निश्चित सीमा तक आचार्य शुक्ल की समीक्षा से बल मिला। उतने ही अंशो मे प्रगतिवादी समीक्षा के ऊपर भी आचार्य का ऋण मानना पड़ेगा। दोनों के जीवन-दृष्टियों मे जो मौलिक भेद है उसका उल्लेख तो ऊपर कर ही दिया गया।

हिन्दी मे प्रभाववादी समीक्षा का प्रचार शुक्ल-युग में ही हुआ और इसका क्षीण आभास पाते ही आचार्य ने कड़े शब्दो मे इसकी भर्त्सना की। इस समीक्षा के सम्बन्ध मे उनकी क्या धारणा थी, इसका विवेचन हम 'साहित्यिक-मान्यताओ' के प्रसंग मे कर चुके है। अवश्य ही यह समीक्षा शुक्लजी से प्रभावित नही है। उनका प्रभाव इस समीक्षा के ऊपर केवल इसी रूप मे देखा जा सकता है कि उसकी अतिरंजित पदावली और अर्थ-शून्य वागाडम्बर को उनकी आलोचना ने कुछ कम किया। प्रभाववादी समीक्षा की त्रुटियों को जितना स्पष्ट रूप से शुक्लजी ने रखा उतना किसी ने नही। स्वयं शुक्लजी के अनुसार समीक्षा की यह पाश्चात्य प्रणाली बंगाल से होती हुई हिन्दी तक आई थी। इस शैली के सबसे समर्थ आलोचक पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी है। डॉ० नगेन्द्र की प्रारंभिक समीक्षाओ मे 'प्रभाववादी' आलोचना की 'रोमानी' शब्दावली अक्सर आ गई है किन्तु वे प्रभाववादी समीक्षक कभी नही रहे। विवेचन-विश्लेषण की मेधा उनके

भीतर प्रारम्भ से ही रही है, इसीलिये छायावाद के प्रारम्भिक विवेचकों मे शुक्लजी ने सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उन्ही को दिया है। नगेन्द्रजी मूलतः 'रसवादी' हैं, इसलिये उनके ऊपर अलग से विचार करना ही समुचित है।

छायावाद के प्रवल पृष्ठ-पोषक होते हुए भी पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान प्रभाववादी समीक्षकों में नही है। काव्य-कृतियों का गम्भीर विश्लेषण उनकी आलोचनाओं मे प्रारम्भ से ही मिलता है। उन्होने अपने आपको आलोचना के किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या शैली मे आवद्ध नहीं होने दिया। पुराने आचार्यों और विशेषकर आचार्य शुक्ल के लगातार विरोध करते रहने पर भी उन्होने अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था मे 'छायावाद' का समर्थन किया था। उनका यह कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। 'छायावाद' के उत्थान के साथ-साथ उनका नाम बराबर लिया जाता रहेगा। अन्य अनेक प्रश्नों पर भी वे शुक्लजी से मतभेद रखते रहे हैं किन्तु इसमे संदेह नही कि उनके ऊपर भी आचार्य शुक्लजी की समीक्षा का ऋण है। उन्होने स्वयं स्वीकार किया है कि शुक्लजी की "लिखी हुई पुस्तकें और उनके तैयार किए हुए विद्यार्थी (जिनमें मैं भी एक होने का गर्व करता हूँ) उनका संदेश स्कूलों और कॉलेजों, पत्रों और पत्रिकाओं तथा व्यापक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में सुनाया करते हैं।" किन्तु वाजपेयीजी के विचार शुक्लजी के विचारों की प्रतिध्वनि मात्र नही—उन्होने शुक्लजी द्वारा उठाये हुए प्रश्नो की नई संभावनाओ पर विचार किया है और साहित्य को उसकी परिस्थितियो के बीच रखकर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विचार करने पर वल दिया है। डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र के अनुसार वाजपेयी जी ने, (क) विश्लेषणात्मक पद्धति को आगे वढ़ाकर पूर्णत. निगमनात्मक वनाया, (ख) वर्ण-व्यवस्था और नीतिवाद को व्यापक लोक-मंगल मे परिणत किया, (ग) साहित्य को उत्थानमूलक सांस्कृतिक चेतना का जन्मदाता वताया, और (घ) भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य सवेदनीयता के साथ सामंजस्य स्थापित किया। उक्त चारों दिशाओं

मे शुक्लजी की मान्यताओ का सहारा लेते हुए और कही-कही उनका परिष्कार करते हुए बाजपेयीजी की आलोचना आगे बढ़ी है। उन्होने कोई नया समीक्षा-सम्प्रदाय नही खड़ा किया किन्तु हिन्दी आलोचना को जो कुछ उन्होने दिया और देते चले जा रहे हैं वह कम मूल्यवान् नही। इसलिये उनके द्वारा शुक्लजी का ऋण-स्वीकार शुक्लोत्तर-समीक्षा पर आचार्य शुक्ल के व्यापक प्रभाव का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है।

डॉ० नगेन्द्र की 'रसवादी' दृष्टि मे शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्वाह दिखाई पडता है। 'साहित्यिक-मान्यताओ' के ऊपर विचार करते हुए हम देख आये है कि आचार्य शुक्ल ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस-शास्त्र की नई सम्भावनाओ की छान-बीन की—रस की पुरानी परिधि को लोचदार बनाकर कुछ अधिक फैलाया, किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्य संप्रदायो के साथ उसका व्यापक सम्बन्ध बिठाने की ओर वे प्रवृत्त नही हुए। डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल द्वारा उद्-भावित मार्ग पर अग्रसर होकर आधुनिकतम मनोविज्ञान— फ्रायड आदि का—से 'रस' का सामंजस्य बिठाने का सराहनीय प्रयत्न किया। शुक्लजी ने बीसवी शती के प्रारम्भिक चरण तक विकसित मनोविज्ञान का आश्रय लिया था, यह हम देख चुके है, फ्रायड के मनोविज्ञान मे उन्हे कदाचित् रस-शास्त्र का समर्थन नही दिखाई पड़ा। नगेन्द्रजी ने मन के चेतन, उपचेतन और अवचेतन स्तरो का विश्लेषण करते हुए भी 'रस' और साधारणीकरण' का मूल आधार नही छोड़ा। दूसरी ओर सारे भारतीय समीक्षा-सप्रदायो के साथ भी उन्होने 'रसवाद' के सामजस्य की संभावना को जाँचा और परखा है। विभिन्न सप्रदायों का जो विश्लेषण उन्होने किया है उससे यह बात सहज स्पष्ट है। इससे भारतीय साहित्य-शास्त्र के एक व्यापक सिद्धान्त के रूप मे समन्वित होने का नया मार्ग खुला है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओ के साथ भारतीय मान्यताओं के सामंजस्य का प्रयास भी डॉ० नगेन्द्र ने किया है। यह कार्य भी अपने प्रारम्भिक रूप में आचार्य शुक्ल द्वारा शुरू किया गया था।

बाबू गुलाबराय वास्तव मे शुक्ल-युग के ही आलोचक हैं—वे लगभग उनके समानान्तर चलते चले आये। उनकी समीक्षा में भी 'रसवाद' का प्राधान्य है किन्तु और दृष्टिकोणो के लिये भी पूरी समाई है। शुक्लजी की विश्लेषण-पद्धति का प्रभाव उनके ऊपर भी है।

उक्त तीनों आलोचको के ऊपर आचार्य शुक्ल का प्रभाव होने का अर्थ है आधुनिक आलोचना के बहुत बड़े भाग के ऊपर उनका प्रभाव होना क्योंकि उक्त आलोचक अपने-अपने ढंग से आधुनिकतम हिन्दी आलोचना का अनेक अशों मे नेतृत्व करते है।

शुक्लोत्तर-समीक्षा मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अन्यतम है। हमने उनका उल्लेख अब तक इसलिये न किया था कि उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण शुक्लजी के प्रभाव मे नही विकसित हुआ। वे 'शान्ति-निकेतन' की विशिष्ट दृष्टि लेकर साहित्य-क्षेत्र मे उतरे। उनकी आलोचना की मूल-गत मान्यता और विवेचन-प्रणाली मे स्पष्ट ही 'रावीन्द्रिक स्पर्श' है जिसमे 'विवेचनात्मकता' और 'प्रभाववादिता' का मणिकांचन योग रहता है। उनकी मानवतावादी भूमि भी शुक्लजी के 'लोक-धर्म से अलग है। वे साहित्य के ही नही सस्कृति के भी व्याख्याता है। कुल मिलाकर वे शुक्लजी के प्रभाव से पूर्णतया अलग हैं। उनकी दृष्टि-भंगी को आधार बनाकर चलने वाले आलोचक भी बहुत है—उन सबको आचार्य शुक्ल के प्रभाव से मुक्त मानना पड़ेगा।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि हिन्दी के अधिकाश कृती आलोचक शुक्लजी से प्रभावित है—कुछ प्रत्यक्ष रूप से और कुछ परोक्ष रूप से। हिन्दी-आलोचना पर उनका भार अब भी दिखाई पड़ता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के निम्नाकित वाक्य से शुक्लजी के प्रभाव की गरिमा सहज ही स्पष्ट है—

"आज भी स्थिति यह है कि साहित्य और उसके आनुपगिक विषयो पर अध्ययन के अधिक प्रशस्त रास्ते खुल जाने पर भी अब तक शुक्लजी ही साहित्य मे अन्तिम वाक्य माने जाते है।"

अध्याय : : ३

निबन्धकार शुक्ल

शुक्लजी के निबन्ध—

निबन्धों का विकास भी नवयुग से सम्बन्ध रखता है और इसलिये हिन्दी-निबन्धों का ढाँचा पाश्चात्य निबन्धों के आधार पर ही निर्मित हुआ। यहाँ उस विस्तार में जानने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिम में निबन्ध का विकास किस प्रकार हुआ, केवल इतना संकेत दे देना पर्याप्त होगा कि पश्चिमी निबन्धों का ढाँचा भी समयानुसार धीरे-धीरे विकसित हुआ। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक मान्तेन (१५३३-१५९२) ही निबन्धों का जन्मदाता माना जाता है। अंग्रेजी में निबन्ध-लेखन का सूत्रपात बेकन (१५६१-१६२६) ने किया और पहले-पहल उन्होंने उच्चकोटि के मौलिक निबन्ध लिखे। इसके उपरान्त विभिन्न कोटियों और शैलियों के लेखक अंग्रेजी में हुए। निबन्ध के रूप-गठन का पर्याप्त विकास भी इसी बीच हुआ।

नवजागरण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हिन्दी में निबन्धों का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में हुआ किन्तु खड़ी-बोली गद्य के अपर्याप्त विकास और विवेचन की अपेक्षित गंभीरता के अभाव के कारण उन निबन्धों को विशेष गौरव नहीं प्रदान किया जा सकता। चपलता और व्यंग्य-विनोद का उच्छलित रूप उनमें अवश्य दिखाई पड़ता है। जैसे भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में। सानुप्रास पदावली की अलंकृत छटा भी खूब दिखाई पड़ती है—जैसे बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के निबन्धों में।

द्विवेदी-काल में, एक ओर तो निबन्धों की पुरानी धारा चलती रही दूसरी ओर गंभीर निबन्ध-लेखन का कार्य भी चल निकला। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे निबन्ध लिखने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान अन्यतम है। मनोविकारों पर लिखे हुए उनके निबन्ध द्विवेदी-काल

मे ही प्रकाशित हुए। इस प्रकार के विषयो (जैसे—'धृति', 'क्षमा' आदि) पर निबन्ध पहले भी लिखे गये थे किन्तु रूप-गठन और वस्तु-विन्यास का उतना सुव्यवस्थित रूप उनमे नही मिलता जितना शुक्लजी में। इसलिये द्विवेदी-कालीन भूमिका मे शुक्लजी के निबन्धो का महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है। हिन्दी-निबन्धों का विकास आज भी होता जा रहा है और उसकी शैली आदि का परिष्कार भी अपेक्षित मात्रा मे हो गया है किन्तु शुक्लजी के निबन्ध पुराने नही पड़े।

निबन्ध-रचना का गुण शुक्लजी मे संस्कारगत था, किन्तु उसको निखारने के लिये उन्होने महती साधना की। इस साधना की उपेक्षा हम नही कर सकते। उनके प्रारम्भिक निबन्धो मे भारतेन्दु और द्विवेदी-कालीन प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं, किन्तु बाद वाले निबन्धो मे उनका लोप हो गया। बात यह है कि शुक्लजी की साहित्य-सृष्टि जिन चालीस वर्षो के बीच हुई वे हिन्दी-भाषा के अत्यन्त क्षिप्रगामी प्रवाह के बीच पड़ते है। इसलिए एक ही व्यक्ति की प्रारम्भिक और अन्तिम रचनाओ में जितना अधिक भेद इस युग मे हो गया, उतना अन्य युगो मे कम ही दिखाई पड़ता है। इस भेद को दिखाने और आचार्य शुक्ल की साहित्य-साधना को स्पष्ट करने के लिये हम उनके निबन्धों का क्रमिक विकास पहले दिखा रहे हैं और उसके बाद उनकी सामान्य विशेषताओ का उद्घाटन करेंगे। विशेषताओ के उद्घाटन मे इस बात का ध्यान रखा जायेगा कि उत्कृष्ट कोटि के निबन्धो की जो कसौटी शुक्लजी ने बतायी थी, उसके आधार पर उनके निबन्धों का मूल्यांकन किया जाय। निबन्धों के स्वरूप और उनके वर्गीकरण के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की मान्यतायें क्या है, यह हम पहले देख चुके है। उन्हे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही। वे ही धारणाये आज भी मान्य है, इसलिये उनका आधार लेकर शुक्लजी के निबन्धो के मूल्याकन में प्रवृत्त हो सकते हैं।

शुक्लजी के निबन्ध :

प्रारम्भिक निबन्ध—निबन्ध-लेखन शुक्लजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रधान अग था। जीवन के उप.काल मे ही उन्होने स्वतन्त्र ढंग से निबन्ध लिखने का प्रयास किया था और कालातर मे गम्भीर अध्ययन से ज्यो-ज्यों उनकी विचार-शक्ति वढती चली गई तथा जीवनानुभव व्यापक होता चला गया त्यो-त्यो उनके निवन्धों मे भी विचार और शैली सम्बन्धी पुष्टता, गम्भीरता और सघनता आती चली गई। हमे यह देख कर आश्चर्य होता है कि केवल बीस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उन्होने कुछ ऐसे निबन्ध लिख लिये जो तत्कालीन हिन्दी निबन्ध-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी है। उनके प्रारम्भिक निबन्ध इस बात के सूचक हैं कि उनके भीतर से ही एक महिमाशाली निवन्ध लेखक की कला जन्म लेने वाली है। 'सरस्वती' की सन् १९०४ की पाँच और छः सख्याओं मे उनका एक लेख 'साहित्य' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। लेख की पद-टिप्पणी मे बतला दिया गया है कि इसकी रचना Newman's Idea of University के Literature शीर्षक लेख के आधार पर हुई है। अत: विचारो की मौलिकता या नवीनता की दृष्टि से तो इसका विशेष महत्त्व नही हो सकता किन्तु शुक्लजी के निबन्धो की गठन-शैली और वाक्य-रचना का विकास देखने के लिये इस निबन्ध की सहायता लेना आवश्यक है। इसमें एक ओर तो उनकी चुस्त और अर्थ-गर्भित भाषा का आभास मिलता है जो उनकी निजी विशेषता बन गई और दूसरी ओर विभक्तियो, शब्दो और वाक्यो के ऐसे पुराने प्रयोग मिलते है जो अर्द्ध-विकसित हिन्दी-गद्य के ब्यापक शैथिल्य के निदर्शक हैं। सुगठित शैली का उदाहरण निम्नलिखित है—

"उत्तम ग्रन्थकार वह नहीं है जो गद्य या पद्य में सुन्दर भड़कीले शब्दों मे गुँथा हुआ कोई पद बना सके, उत्कृष्ट कवि वही है जिसे कुछ कहना होता है और जो यह जानता है कि उसे किस प्रकार कहना

चाहिए।" यद्यपि उक्त वाक्य में भी गठन का वह चारुत्व और घनत्व नही है जो आगे चलकर विकसित हुआ तथापि उसका आभास अवश्य मिल जाता है। भाषा-शैथिल्य के दो उदाहरण निम्नांकित है—

"ऊपर जो बातें कही गई उन सबका अब मै सारांश प्रकाशित करता हूँ कि साहित्य क्या है ?"

"·········वाग्वीणा के प्रत्येक स्वरों को खींचकर एक करता हुआ अपनी शक्ति और पूर्णता का अनुभव कराता है।"

'मित्रता' शीर्षक निबन्ध भी शुक्लजी के प्रारम्भिक निबन्धो मे माना जाता है परन्तु वस्तुत. वह भी मौलिक नही है। श्री शिवनाथ एम० ए० ने अपनी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' के तीसरे संस्करण के पृष्ठ २५४ पर उसे मनोविकारों पर लिखा हुआ प्रारम्भिक किन्तु मौलिक निबन्ध समझ कर कहा है। "यह निबन्ध भावों पर लिखे गये इधर के निबन्धों की भाँति गहन नही है······'मित्रता' नामक निबन्ध देखने से विदित होता है कि यह शिक्षात्मक और थोड़ी विद्या बुद्धि वालो के लिये है। यह बात इसकी वाक्य-योजना में व्यवहृत आज्ञा-सूचक (इम्परेटिव) वाक्यों से स्पष्ट है।····· इसमें भाषा और विचारों की विधान-पद्धति सरल है। पर यह तो निश्चित ही है कि यह भी प्रौढ़ निबन्धों की भाँति विचारात्मक निबन्ध ही है।" वास्तव मे यह निबन्ध शुक्लजी की 'आदर्श-जीवन' नामक पुस्तक का एक अध्याय है जो W. H. Davenport Adams की Plain Living and High thinking नामक पुस्तक का आधार लेकर लिखी गई है। यह कहने की आवश्यकता नही कि उस सम्पूर्ण पुस्तक मे वही शैली अपनायी गई है जिसका उल्लेख उक्त निबन्ध के सिलसिले में श्री शिवनाथ जी ने किया है। अतः अनुवाद के प्रसंग में ही इस निबन्ध पर विचार करना उचित होगा, यहाँ केवल संदेह को दूर करने के लिए ही इसका उल्लेख किया गया।

'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के अपने संपादन काल में उन्होंने ऐसे लेख भी पत्रिका में प्रकाशित किये जिन पर लेखक का नाम नही दिया गया। 'उपन्यास' शीर्षक लेख ऐसा ही जान पड़ता है जो आगे चलकर भी कहीं अन्यत्र मुद्रित नही हुआ। शिवनाथ जी ने भी उसे शुक्लकृत माना है। इस निवन्ध मे, विचारों की गूढ़-गुम्फित परम्परा के साथ-साथ लेखक की परिष्कृत आलोचना बुद्धि का आभास भी मिल जाता है। हिन्दी मे उपन्यास लेखको की आई हुई तत्कालीन वाढ़ को लक्ष्य कर, निवन्ध मे प्रारम्भ मे ही कहा गया—

"आजकल उपन्यास लिखने में वहुत लोगों की धड़क खुल गई है इनमें यदि थोड़े ऐसे है जिन्हें अपनी कल्पना और अनुभव का सहारा है तो वहुत ऐसे भी है जिनका अन्य भाषाओं की अविख्यात पुस्तकों पर ही गुजारा है"—

"सहारा है", "गुजारा है" जैसे तुक-वद्ध प्रयोग हिन्दी गद्य में प्रचलित उन भारतेन्दु-कालीन प्रयोगों के स्मारक हैं जिनका उल्लेख, अपने हिन्दी-साहित्य का इतिहास मे पण्डित वदरीनारायण चौधरी की गद्य शैली पर विचार करते हुए, स्वय शुक्लजी ने ही अत्यन्त विनोद-पूर्ण ढंग से किया है।

इसी लेख मे अन्यत्र शुक्लजी ने व्यापार-शोधन की उस प्रक्रिया का उल्लेख किया है जिसका प्रयोग उत्कृष्ट काव्य में वे अनिवार्य मानते रहे और जिसके ऊपर, आगे चलकर, उन्होने अपने विम्व-ग्रहण के सिद्धान्त की नीव रखी। यह विचार उनके 'लेखन' में सर्वप्रथम यही प्रगट हुआ। इतिहास लेखक और ऐतिहासिक उपन्यास के रचयिता के मूल भेद को स्पप्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि—

"इतिहास कभी उन वहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिये जिनसे जीवन का तार वँधा है एक सांकेतिक (Symbolic) व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है पर उपन्यास का संतोष इस प्रकार

नहीं हो सकता। इतिहास कहीं यह कहकर छुट्टी पा जाएगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब इस 'अत्याचार' शब्द के अंतर्गत बहुत से व्यापार आ सकते है। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी किसी को प्रत्यक्ष करने मे लग जाएगा।"

आगे की आलोचनाओं मे वे सदैव इस बात का प्रतिपादन करते रहे कि शब्द-शोधन के साथ-साथ उपलक्षण-पद्धति पर व्यापार-शोधन की प्रणाली का अनुसरण भी कवियो और साहित्यकारों द्वारा होता आया है और होना चाहिए। उपन्यास में भी केवल परिशोधित घटनाओं का विन्यास करके ही जीवन की समग्रता का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है।

प्रौढ़ निबन्ध—

साहित्यिक—'उपन्यास' शीर्षक निवन्ध के अतिरिक्त शुक्लजी का एक और महत्त्वपूर्ण निबन्ध "कविता क्या है ?" शीर्षक से 'सरस्वती' सन् १९०८ मे प्रकाशित हुआ था। उनकी सैद्धान्तिक आलोचना का निदर्शन कराने वाला सर्वप्रथम मौलिक निवन्ध इसे ही माना जा सकता है। 'चिन्तामणि' नामक सग्रह मे इसी शीर्षक से जो निबन्ध आगे चलकर प्रकाशित हुआ वह इसका किंचित् परिवर्द्धित रूप है। विचारो को अधिक प्रभावशाली और प्रामाणिक तथा शैली को अधिक सघन और गंभीर बनाने के लिये लेखक ने केवल नये प्रसंगों और वाक्यों या वाक्यांशो का समावेश ही नही किया अपितु अनावश्यक प्रसंगो और शिथिल वाक्यो को अलग भी कर दिया। इस प्रकार ९-१० वर्षो में शुक्लजी ने अनुभव और अध्ययन से क्या सीखा और उनकी लेखन शैली मे कितना निखार आया, इस बात का आभास हमे उक्त निबन्ध के दोनों प्रकाशित रूपो की तुलना करने से लग जाता है। 'सरस्वती' मे निबन्ध का प्रारम्भ निम्नांकित वाक्यों से हुआ है।

"कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है। सृष्टि के पदार्थ या व्यापार विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करती है मानो वे पदार्थ या व्यापार विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते है वे मूर्तिमान दिखाई देने लगते है।......" इस सहज सरल और अपेक्षाकृत शिथिल वाक्य रचना के विपरीत 'चितामणि' में अत्यन्त तर्कपूर्ण और गुम्फित विचार-शृंखला का नियोजन करके काव्य-साधना को 'भाव-योग' के रूप मे प्रतिष्ठित करने और कर्म-योग तथा ज्ञान-योग के समकक्ष रखने का जो प्रयास प्रारम्भ में ही किया गया है उससे आगे आने वाली गंभीरता का आभास सहज ही मिल जाता है।

शुक्लजी का तीसरा प्रसिद्ध साहित्यिक निबन्ध 'हरिश्चन्द्र समीक्षा', है जो सन् १९११ में प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु के युगान्तरकारी महत्त्व को उन्होंने अच्छी-भाँति पहचाना था और पूर्ण विस्तार के साथ अपने निबन्ध मे उसका उद्घाटन भी किया। यही निबन्ध 'चिन्तामणि' में भी प्रकाशित हुआ। "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" लिखते समय भी भारतेन्दु के प्रकरण में इसकी सामग्री ज्यों-की-त्यों समाविष्ट कर ली गई। उक्त तीन साहित्यिक निबन्धो के अतिरिक्त प्रौढावस्था मे लिखे गए शुक्लजी के चार और साहित्यिक निबन्ध ऐसे हैं जो गंभीर विचार की अपेक्षा रखते हैं—

(१) काव्य मे लोक-मंगल की साधनावस्था, (२) साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, (३) रसात्मक बोध के विविध रूप, (४) काव्य में प्राकृतिक दृश्य।

उक्त चारो निबन्धो में उन्होंने चार प्रमुख साहित्यिक समस्याओ पर, पूर्ण सतर्कता और गंभीरता के साथ विचार करके अपनी समीक्षा के दृढ सैद्धान्तिक आधारो को स्पष्ट कर दिया है। 'तुलसी का भक्तिमार्ग' और 'मानस की धर्मभूमि' शीर्षक निबन्ध स्वतन्त्र रूप से लिखे जाने पर भी वस्तुतः 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक बड़े समीक्षात्मक प्रबन्ध के पूरक मात्र हैं और उसी के दो अध्यायो के रूप मे रखे जा सकते हैं।

'काव्य मे रहस्यवाद' स्वतन्त्र पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हो चुका है। निबन्ध के बडे आकार और वर्णित विषय की विवादग्रस्तता के कारण उस पर अलग से विचार करना ही अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक विस्तृत निबन्ध हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य परिषद् के सभापति पद से दिया गया भाषण है। उसमे निबन्धकार का व्यक्तित्व ही अधिक प्रधान है, भाषणकार का कम इसलिए वह निबन्ध भी स्वतन्त्र प्रकरण मे ही विचारणीय है।

उपर्युक्त छोटे-बड़े निबन्धों के अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी भाषा और साहित्य-सम्बन्धी अनेक मार्मिक तथा महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ भी लिखी हैं जो नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी—उनमे से कुछ का साहित्यिक मूल्य भी है और कुछ उनकी व्यापक संपादनक्षमता की परिचायिका हैं। उनकी संपादन कला पर विचार करते हुए हम इन टिप्पणियो का कुछ विवरण देने का प्रयास करेंगे।

ऊपर शुक्लजी के सभी आलोचनात्मक निबन्धो का नामोल्लेख मात्र किया गया है, इससे उनमे प्रतिपादित विषयो का किंचित् आभास मिल जाता है। आलोचना के सिद्धान्त-पक्ष का उद्घाटन ही इन निबन्धों का मुख्य उद्देश्य रहा है। एक स्वतन्त्र चिन्तक या विचारक के रूप मे लेखक प्राचीन साहित्य-शास्त्र की परम्परागत मान्यताओ के अन्तर्गत नूतन संभावनाओं का अनुसधान करता गया है। ऐसा करने में अगर कहीं प्राचीनता नये ज्ञानालोक मे जगमगा उठी है तो कही नूतनता, प्राचीन चिंतन की समृद्धि से समन्वित होकर हमारे लिए चिरपरिचित हो उठी है। आलोचना के प्रकरण मे सिद्धान्तो पर विचार किया गया है। अतः यहाँ प्रकार और गठन आदि का विश्लेषण ही अपेक्षित है।

मनोविकार विषयक—मनोविकारों का विश्लेषण करने के लिये शुक्लजी ने जो निबन्ध द्विवेदी-युग में लिखे वे चिन्तामणि भाग १ के प्रारम्भ मे ही संगृहीत है। ये निबन्ध 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' मे समय-समय पर प्रकाशित हुए थे। प्रकाशन-तिथियो के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी रचना लगभग १५ वर्षो के व्यवधान काल मे हुई है। इसीलिए लेखक ने मनोविकारो मे सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्याओं पर पूर्ण तल्लीनता और सुस्थिरता के साथ विचार किया है। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की निश्छल और यथार्थ अभिव्यक्ति अगर कही एक जगह देखनी हो तो इन निबन्धों मे ही देखी जा सकती है।

प्रायः यह समझा जाता है कि शुक्लजी ने प्रारम्भ मे ही निबन्धों को जिस रूप मे लिखा, उसी रूप मे अत तक बना रहने दिया। इस पर से ही यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि साहित्यिक क्षेत्र में वह पूर्ण परिष्कृत और प्रौढ़ शैली तथा गंभीर विचार सम्पत्ति लेकर ही उतरे थे। किन्तु उनके पहले के प्रकाशित निबन्धो तथा 'चिन्तामणि' में सगृहीत निबन्धो की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनवरत साधना, अध्ययन और अध्यवसाय से ही उन्होने अपनी विचार-समृद्धि और शैली-सौन्दर्य की अभिवृद्धि की थी।

यहाँ दो एक उदाहरण इस बात को प्रमाणित करने के लिए दिये जा रहे हैं कि मनोविकारो पर लिखे गये निबन्धों को भी शुक्लजी समय मिलने पर अधिक युक्ति-संगत और स्पष्ट बनाने के लिये यत्र-तत्र परिवर्तित करते चले गये। 'मनोविकारों का विकाश' शीर्षक उक्त निबन्धों की जो माला 'पत्रिका' के विभिन्न अको मे निकल रही थी उसकी चौथी किश्त के रूप में १९१३ के जुलाई-अगस्त वाले अंक में 'करुणा' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ। उसका पहला वाक्य निम्नाकित था—

"अन्वय-व्यतिरेक की शक्ति के उपरान्त जब बच्चे को कार्य-कारण सम्बन्ध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं।"

'चिन्तामणि' मे पूर्वार्द्ध को परिवर्तित करके वाक्य को निम्नांकित रूप दे दिया गया है—

"जब बच्चे को सम्बन्ध-ज्ञान कुछ-कुछ होने लगा है तभी दुःख के उस भेद की नीव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं।"

परिवर्तन का कारण यह है कि अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध को वास्तविक रूप में पहचानने की शक्ति बच्चे के भीतर बहुत बाद मे आती है किन्तु करुणा का भाव उसमे पहले भी उदित हो सकता है, 'अन्वय-व्यतिरेक' का अर्थ है 'किसी के होने पर अन्य का होना' और 'किसी के

न होने पर अन्य का न होना' वस्तुतः इस जटिल सत्य को जाने विना भी बच्चे अपनी माँ आदि को रोते हुए देखकर रो पडते है। उनके दु.खी होने के लिए इतना बोध पर्याप्त है कि उनका कोई प्रिय दुःखी है और यह बोध उसी समय आ जाता है जब बच्चा दु ख के सूचक कार्य को देख कर कारण-स्वरूप दु ख का अनुमान कर लेता है। करुणा की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक नही है कि बच्चा यह भी जाने कि अमुक पदार्थ के न रहने पर यह रुलाई या दु:ख नही रहेगा।

इसी लेख मे आगे चलकर एक वाक्य जो 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' मे इस प्रकार छपा—

"पहले दिखलाया जा चुका है कि करुणा अनावर्त्ती मनोवेगों मे से है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह वदले में करुणा करने वाले भी करुणा न ही करता (जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है) बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम करता है।" चिन्तामणि मे निम्नांकित रूप मे आया—

"करुणा अपना वीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती है, अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह वदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है, वल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है।"

दूसरे वाक्य में से 'अनावर्त्ती' शब्द निकाल दिया गया है, सभवतः यह सोचकर कि अनावर्त्ती मनोवेग तो उसे भी कह सकते है जो उसी व्यक्ति (आश्रय) के भीतर दुबारा उत्पन्न हो जाय। 'आवर्त्तन' का अर्थ चक्कर काटकर आना ही हो सकता है। अत. अनावर्त्ती के प्रयोग में अधिक अस्पष्टता थी। इसके विपरीत 'आलम्बन' मे वीज फेंकने का प्रयोग अधिक शास्त्रीय और व्यंजक है। दूसरा परिवर्तन वाक्य के अतिम भाग मे दिखाई पडता है। जिसका स्पष्ट कारण वाक्य की अशुद्धि थी पहले वाक्य मे "कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम कर[illegible]" कहने [illegible] है

यह कहना कि "कृतज्ञता करता है" जो स्पष्टत. गलत है। शुद्ध रूप है 'कृतज्ञ होना' या 'कृतज्ञता प्रकट करना'।

वाक्यों और शब्दों में किये गये उक्त संशोधनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की शुद्धता और व्यंजना-शक्ति का विकास करने के लिये गद्यकार शुक्ल ने कितनी साधना की।

इन निबन्धो की रचना करते समय शुक्लजी ने संभवतः दो उद्देश्य अपने समक्ष रखे। पहला तो यह था कि मनोविज्ञान के जटिल सिद्धान्तों और वाद-विवादों से बचते हुए समस्त प्रधान भावो का विवेचन कर दिया जाय और दूसरा यह था कि साहित्य मे प्रधान रूप से व्यक्त होने वाले सुखात्मक एव दु.खात्मक भावों का विश्लेपरण करके और जीवन के साथ उनका अटूट लगाव दिखाकर रस-शास्त्र की सामाजिक भूमिका स्पष्ट कर दी जाय। दूसरा उद्देश्य अपेक्षाकृत अधिक परोक्ष रहा, किन्तु प्राधान्य या महत्त्व उसी का है। इन निबन्धों मे उक्त दोनो उद्देश्यों के अनुरूप दो प्रधान प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती हैं—

पहली बात तो यह है कि यद्यपि शुक्लजी के निष्कर्ष अधिकतर मनोविज्ञान के अनुकूल हैं तथापि उनके विवेचन में शास्त्रीय जटिलता या ऊहा-पोह का नितान्त अभाव है। उन्होने इन निष्कर्षो को स्वानुभव और पाश्चात्य मनोविज्ञान के अध्ययन से प्राप्त किया। भारत मे मनोविज्ञान स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे नहीं रहा और साहित्य-शास्त्र में उसका यत्किंचित् विवेचन ही उपलब्ध था। अतः हमे केवल यही देखना है कि मनोविज्ञान के किसी पाश्चात्य लेखक का प्रभाव इन निबन्धो पर है अथवा नही। शुक्लजी ने शैंड नाम के एक मनोवैज्ञानिक का उल्लेख भावो पर विचार करते समय कई बार किया है। उसकी पुस्तक 'Foundations of Character' का हवाला भी दिया है। दोनो विचारको के अनेक समान निष्कर्षो का दिग्दर्शन यहाँ रोचक होगा।

इच्छा (Desire) को शैंड ने कोई स्वतंत्र भाव नही माना है किन्तु प्रत्येक भाव के अन्तर्गत उसके अनिवार्य अस्तित्व का प्रतिपादन किया है—

न होने पर अन्य का न होना' वस्तुतः इस जटिल सत्य को जाने बिना भी बच्चे अपनी माँ आदि को रोते हुए देखकर रो पडते है। उनके दुःखी होने के लिए इतना बोध पर्याप्त है कि उनका कोई प्रिय दुःखी है और यह बोध उसी समय आ जाता है जब बच्चा दुख के सूचक कार्य को देख कर कारण-स्वरूप दुख का अनुमान कर लेता है। करुणा की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक नही है कि बच्चा यह भी जाने कि अमुक पदार्थ के न रहने पर यह रुलाई या दुख नही रहेगा।

इसी लेख मे आगे चलकर एक वाक्य जो 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' मे इस प्रकार छपा—

"पहले दिखलाया जा चुका है कि करुणा अनावर्त्ती मनोवेगों में से है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले भी करुणा न हीं करता (जैसा कि क्रोध और प्रेम मे होता है) बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम करता है।" चिन्तामणि मे निम्नाकित रूप मे आया—

"करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेकती है, अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम मे होता है, बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है।"

दूसरे वाक्य में से 'अनावर्त्ती' शब्द निकाल दिया गया है, सभवतः यह सोचकर कि अनावर्त्ती मनोवेग तो उसे भी कह सकते हैं जो उसी व्यक्ति (आश्रय) के भीतर दुबारा उत्पन्न हो जाय। 'आवर्त्तन' का अर्थ चक्कर काटकर आना ही हो सकता है। अतः अनावर्त्ती के प्रयोग मे अधिक अस्पष्टता थी। इसके विपरीत 'आलम्बन' मे बीज फेकने का प्रयोग अधिक शास्त्रीय और व्यंजक है। दूसरा परिवर्तन वाक्य के अतिम भाग मे दिखाई पडता है। जिसका स्पष्ट कारण वाक्य की अशुद्धि थी पहले वाक्य में "कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम करता है" कहने का अर्थ है

यह कहना कि "कृतज्ञता करता है" जो स्पष्टत. गलत है। शुद्ध रूप है 'कृतज्ञ होना' या 'कृतज्ञता प्रकट करना'।

वाक्यों और शब्दो में किये गये उक्त संशोधनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की शुद्धता और व्यंजना-शक्ति का विकास करने के लिये गद्यकार शुक्ल ने कितनी साधना की।

इन निबन्धों की रचना करते समय शुक्लजी ने संभवतः दो उद्देश्य अपने समक्ष रखे। पहला तो यह था कि मनोविज्ञान के जटिल सिद्धान्तों और वाद-विवादो से बचते हुए समस्त प्रधान भावो का विवेचन कर दिया जाय और दूसरा यह था कि साहित्य मे प्रधान रूप से व्यक्त होने वाले सुखात्मक एवं दु.खात्मक भावो का विश्लेषण करके और जीवन के साथ उनका अटूट लगाव दिखाकर रस-शास्त्र की सामाजिक भूमिका स्पष्ट कर दी जाय। दूसरा उद्देश्य अपेक्षाकृत अधिक परोक्ष रहा, किन्तु प्राधान्य या महत्त्व उसी का है। इन निवन्धो मे उक्त दोनो उद्देश्यो के अनुरूप दो प्रधान प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती है—

पहली बात तो यह है कि यद्यपि शुक्लजी के निष्कर्ष अधिकतर मनोविज्ञान के अनुकूल हैं तथापि उनके विवेचन में शास्त्रीय जटिलता या ऊहा-पोह का नितान्त अभाव है। उन्होने इन निष्कर्षो को स्वानुभव और पाश्चात्य मनोविज्ञान के अध्ययन से प्राप्त किया। भारत में मनोविज्ञान स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे नही रहा और साहित्य-शास्त्र में उसका यत्किंचित् विवेचन ही उपलब्ध था। अतः हमे केवल यही देखना है कि मनोविज्ञान के किसी पाश्चात्य लेखक का प्रभाव इन निवन्धो पर है अथवा नही। शुक्लजी ने शैंड नाम के एक मनोवैज्ञानिक का उल्लेख भावों पर विचार करते समय कई बार किया है। उसकी पुस्तक 'Foundations of Character' का हवाला भी दिया है। दोनो विचारको के अनेक समान निष्कर्षो का दिग्दर्शन यहाँ रोचक होगा।

इच्छा (Desire) को शैंड ने कोई स्वतंत्र भाव नही माना है किन्तु प्रत्येक भाव के अन्तर्गत उसके अनिवार्य अस्तित्व का प्रतिपादन किया है—

"Every emotion when its end is obstructed, tends to develop its impulse into desire, and so to give rise to the prospective emotions, the system of every emotion potentially contains desire with its prospective emotions."

शुक्लजी ने 'भाव या मनोविकार' शीर्षक निबन्ध में भाव के लिये इच्छा की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए लिखा

"अतः जब तक आशा, निराशा या अनिश्चय-अवस्था इत्यादि अवस्थाओं के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भाव या बोध की अच्छी पूर्णता प्राप्त न होगी"

एक अन्य स्थान पर 'इच्छा' को भावों की कोटि से अलग करते हुए कहते हैं -

"इच्छा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है पर 'भाव' तक पहुँचना इसका स्वतन्त्र विधान नहीं। इसका अपना कोई लक्ष्य नहीं होता, दूसरे भावों को लेकर यह चलता है।"

इसी प्रकार, भय और क्रोध के प्रसंग में [illegible] शुक्लजी ने दोनों में भिन्नता स्थापित करते हैं।

"क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिये आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिये।" [चिन्तामणि]

"All varieties of anger tend to accomplish their ends by some kind of aggressive behaviour." "Fear throughout its varieties strives to avoid aggressive behaviour."-- शैंड

"भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायरता या भीरुता कहलाता [illegible]" [चिन्तामणि]

innate quality of the egoistic varieties and of their instincts and behaviour, ids always to avoid risking the the end may be." - शैंड

"क्रोध के समय लोगों के मन में लोक-कल्याण की यह व्यापक भावना सदा नहीं रहा करती। अधिकतर तो ऐसा क्रोध प्रतिकार के रूप में ही होता है।" [चिन्तामणि]

"Primitive anger is not always prospective and directed to ward off a possible attack, but is sometimes, retrospective and its end then, is to inflict punishment for past injury. This is the anger which prompts to the behaviour called 'revenge'.—शैंड

क्रोध का लोकोपकारक रूप निम्नांकित है—

"There is an anger that we feel on behalf of others, as there is a fear corresponding to it ; and as there is clear evidence of this disinterested fear being experienced by the higher animals, so there is similar evidence of their capacity to feel disinterested anger"—शैंड

"क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते है—अपना दुःख और पराया दुःख।···क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने संपर्क से दूर होगा उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा।

[चिन्तामणि]

घृणा की परिभाषा मे भी अद्भुत साम्य है—

"Disgust tends to exclude curiosity about its object and all further knowledge of it ; and curiosity likewise, tends to repress disgust at its object."—शैंड

"इन अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से इन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है उसे घृणा कहते हैं।"

[चिन्तामणि]

"क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन-चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर

मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है, यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख-मात्र प्रगट कर देता है।" ['चिन्तामणि']

"Anger shows itself in the case of the child in close connexion with physical pain It becomes diffrentiated from mere physical suffering by the vague consciousness of other's action, *e.g* , when forced by the nurse to take its bath, or to be dressed."

—जेम्स सले

चिन्तामणि तथा अन्य पुस्तकों मे भी जहाँ कही प्रसंग आया है वहाँ शुक्लजी ने क्रोध के कल्याणकारी स्वरूप की महत्ता प्रतिपादित की है। बहेलिये के ऊपर वाल्मीकि के क्रोध और रावण के ऊपर राम के क्रोध को वे इसीलिए सात्त्विक और आदरणीय ठहराते है कि उनमे आलम्बन के साथ उनका निजी सम्पर्क उतना नही है जितनी पर-कल्याण की भावना या पर-दुखकातरता। टालसटाय की 'आध्यात्मिकता' का विरोध भी वे इसीलिए करते है कि उसमे अत्याचार या दुराचार को दमित करने वाले क्रोध का नितान्त अभाव है। वे उस सम्पूर्ण मानव-जीवन को रस-हीन और व्यर्थ समझते हैं जिसमें अत्याचारी के क्रूर कर्म को देखकर क्रोध से 'तिलमिलाने' की शक्ति नही है। क्रोध के इस लोकोपयोगी 'निर्विशेष' रूप का विवेचन सले ने अपनी पुस्तक मे किया है।

"On the other hand so for as anger is sympethetically extended, so as to become a disposition to resent injury to others, the family or the community, it acquires a new teleological significance as race-preserving."

करुणा के भाव को लेकर यूरोपीय मनोवैज्ञानिकों मे उन्नसवी शती के मध्य में ही विवाद उठ खडा हुआ था। सबसे पहले हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने Principles of Psychology नामक ग्रन्थ मे Sympathy या सहानुभूति के अन्तर्गत Pity या करुणा नामक भाव का विवेचन

समाज-शास्त्र, जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से किया और विद्वानों के समक्ष अनेक मूल्यवान् निष्कर्ष रखे। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह निकला कि करुणा अन्ततोगत्वा आनन्ददायी भाव है, इसकी परि-तुष्टि से चित्त में खिन्नता आदि उत्पन्न होने के बजाय आत्म-संतोष और आनन्द की उत्पत्ति होती है। और इस आनन्द का कारण यह है कि 'करुणा' के मूल भाव का विकास प्राकृतिक चुनाव के आधार पर पुत्र-रक्षा या पुत्र-प्रेम के आधार पर हुआ है।

शुक्लजी ने स्पेंसर द्वारा दिये गये तर्क का कही उल्लेख तो नही किया है किन्तु इस बात का प्रतिपादन अवश्य किया कि दु ख की श्रेणी में करुणा ही एक ऐसा भाव है जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति भी रसात्मक (आनन्ददायक) होती है। "करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों और सब द ाओ मे रसात्मक होती है।"

अलेग्जेण्डर वेन ने बताया है कि अपने घनिष्ट लोगों के प्रति मनुष्य की करुणा जल्दी जगती है और दूरस्थ व्यक्तियो के प्रति अपेक्षाकृत अधिक विलम्ब से। इसका कारण यह है कि करुणा और प्रेम मे गहरा सम्बन्ध है।

"It is notorious that we sympathize readily with those that we are attached to, less readily with indifferent persons, and scarcely at all with those that we dislike"

इसी तथ्य का प्रतिपादन शुक्लजी ने भी किया है "जबकि अज्ञात व्यक्ति के दु.ख पर दया बराबर उत्पन्न होती है, तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है, जिसके गुणो से. हम अच्छी तरह परिचित रहते है, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमे अवश्य अधिक करुणा होगी।"

करुणा के विरोधी मनोविकारों पर विचार करते हुए बेन

महोदय ने कहा है कि क्रोध अपनी निजी प्रकृति के कारण करुणा का प्रबल शत्रु है।

"Of the higher emotions, the feeling of Anger is by its very nature antipathic."

शुक्लजी ने भी स्वीकार किया है कि "दुःख की श्रेणी मे प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है।"

बेन ने कहा है कि जिसके ऊपर करुणा की जी जाती है उसके मन में करुणा करने वाले के प्रति आनन्द-पक्ष के सभी भाव जग उठते हैं—केवल एक भाव नही,जगता और वह है दूसरे की सहायता करने से उत्पन्न आनन्द। **"It (Pity) prolongs the thrill of ever-pleasing emotion"**

और

"While the emotion of the protector is tender feeling, as Pity or Benevolent regard, the emotion of the protected must contain elements of tenderness without the pleasure of helping"

शुक्लजी ने उन आनन्दमूलक भावो को गिनाते हुए कहा है—"जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नही करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम मे होता है—वल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा और प्रीति करता है।" [चिन्तामणि पृ० ५२]

स्पेसर ने वताया है कि करुणा की प्रवृत्ति जिन व्यक्तियो मे होती है वे अपने आपको ऐसे कार्यो मे प्रवृत्त होने से बचाते हैं, जो न्याय-संगत और उचित होते हुए भी दूसरों के लिए कष्टकारक सिद्ध हों। वे कभी-कभी उस सत्य को भी नही प्रकट कर पाते जो दूसरो के लिए कटु या अप्रिय हो—

"And in sympathetic persons, representation of the annoyance to be given is so vivid that it often prevents

them from doing or saying unpleasant things which they see ought to be done or said : the sentiment of pity checks the infliction of pain, even unduly."

शुक्लजी ने भी कहा है कि "ऐसा (करुणावान्) मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जो दुःखे। यदि वह किसी अवसर पर बड़ों की कोई बात नहीं मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है; इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे।

[चिन्तामणि पृ०-४७]

लज्जा और ग्लानि

"लज्जा और ग्लानि" की गणना हमारे संचारियो में की गई और पाश्चात्य मनोविज्ञान मे भी दोनो मनोभावों का पर्याप्त विवेचन हुआ है। आगे आने वाले समानान्तर उद्धरणो से यह प्रकट हो जायेगा कि शुक्लजी के विवेचन पर मनोविज्ञान का ही प्रभाव है। हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा है कि 'लज्जा' नामक भाव के लिए केवल इतना बोध ही आवश्यक है कि दूसरे लोग हमारे भीतर किसी बुराई या तुच्छता का आभास पाते हैं; यह आवश्यक नहीं कि हमने बुरा काम किया हो तभी लज्जित हो। बुरा काम न करने पर भी केवल उसके साथ नाम जुट जाने मात्र से ही लज्जा का अनुभव होने लगता है। स्पेंसर के निम्नाकित वाक्य में उक्त सभी लक्षण आ गये हैं—

"......Shame, produced by *representation of the contempt of others*, is the same in its essential nature whether this imagined contempt is excited by a wrong thing really done or by a *wrong thing supposed to be done.*"

अनेक दृष्टान्तों और उदाहरणों से पुष्ट करके शुक्लजी ने 'लज्जा' के इन्ही लक्षणो को निरूपित किया है। वे कहते हैं—

"लज्जा का कारण अपनी बुराई, त्रुटि या दोष का हमारा अपना निश्चय नहीं, दूसरे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है......।"

और

"किसी बुरे प्रसंग में यदि निमित्त रूप से भी हमारा नाम आ जाता है तो हमें लज्जा होती है—चाहे ऐसा हमारी जानकारी में हुआ हो, चाहे अनजान में।"

'रस-मीमासा' पुस्तक में 'ग्लानि' का प्रसंग आने पर आचार्य शुक्लजी ने यह कहा है कि इस भाव का ठीक-ठीक बोध कराने वाला कोई शब्द अंग्रेजी भाषा मे नही है; इसलिए अंग्रेजी-भाषी इस भाव की उतनी सटीक व्याख्या नही कर सकते जितनी हिन्दी-भाषी। उन्होने यह भी सुझाया कि भारत-निवासी अपनी भावुकता के लिए संसार मे बदनाम हैं; इसलिए और क्षेत्रो मे वे जगत् को कुछ नया प्रदान कर सकें अथवा नही, किन्तु भाव-विवेचन के क्षेत्र मे तो अवश्य ही अग्रणी बन सकते हैं। किन्तु इसी 'ग्लानि' भाव की जैसी सूक्ष्म व्याख्या हर्बर्ट स्पेंसर आदि ने की है उसे देखते हुए शुक्लजी का उपर्युक्त वक्तव्य ही खण्डित नही हो जाता, अपितु यह भी प्रमाणित हो जाता है कि उन्होने स्पेंसर के लक्षण को ही कुछ शब्दो के हेर-फेर के साथ स्वीकार कर लिया है। 'ग्लानि' को स्पेंसर ने मनुष्य की 'उच्चतम नैतिक स्थिति' के रूप मे देखा और कहा है वह इस बात पर निर्भर नही करती कि दूसरे लोग हमारे आचरण के सम्बन्ध मे क्या धारणा रखते है, बल्कि वह इस बात पर निर्भर करती है कि हम अपने आचरण मे क्या त्रुटि या दोष देखते हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण परिभाषा निम्नांकित है—

"And here we may see how far man at present are from that *highest moral state,* in which the supreme and most powerful sentiments are those called forth by *contemplation of conduct itself, and* not by *contemplation of other persons' opinions of conduct."*

उक्त परिभाषा मे भाव का नामोल्लेख नही है किन्तु उसके ठीक-ठीक रूप का बोध लेखक को अवश्य है। 'ग्लानि' की इन्ही दोनो विशेषताओं को शुक्लजी ने निम्नांकित ढंग से निरूपित किया—

"अपनी बुराई, मूर्खता तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते है। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है जिनका अन्तःकरण सत्त्व-प्रधान होता है, जिनके संस्कार सात्त्विक होते हैं, जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं।" स्पेंसर मे जो 'Highest moral State' है वही शुक्लजी मे 'सत्त्व प्रधान अन्तःकरण, बन गया है। अपनी मूर्खता, तुच्छता आदि का एकागी निजी अनुभव, ग्लानि का वास्तविक लक्षण है, यह दोनो ही विद्वान् स्वीकार करते है।

लोभ और प्रीति

'लोभ' हमारे यहाँ विकारों मे गिनाया गया किन्तु प्रीति को 'रति' के रूप मे श्रृंगार रस का स्थायी भाव माना गया। पाश्चात्य मनोविज्ञान में 'Love' शब्द के अंतर्गत दोनों को समाविष्ट कर लिया गया। 'लोभ' और 'प्रीति' के प्रचलित अर्थों को लेकर शुक्लजी ने दोनो के बीच सूक्ष्म भेद स्थापित किया। उन्होने बताया "साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किस प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।" मनोवैज्ञानिको में भी यह धारणा प्रचलित थी कि प्रेम का वास्तविक रूप सजीव प्राणियो के बीच ही उपलब्ध होता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने प्रेम के जिन रचनात्मक उपादानों और प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है उनके अतर्गत 'लोभ' और प्रीति दोनो के मुख्य तत्त्व आ जाते हैं। उनके अनुसार 'काम-भावना' प्रेमार्कर्पण, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, आत्म-श्लाघा, आत्म-सम्मान, प्राप्ति और अधिकार में रखने का आनन्द, स्वतंत्रता की भावना, और सहानुभूति का उदात्तीकरण ही प्रेम के मुख्य सयोजक तत्त्व है। आगे आने वाले मनोवैज्ञानिकों ने भी प्रेम भाव की जटिलता और सश्लिष्टता को लक्ष्य किया; शैंड ने इस सम्पूर्ण व्यवस्था को वैज्ञानिक रूप देते हुए सिद्ध किया कि 'प्रेम' एक भाव मात्र नही है, अपितु वह एक ऐसा भाव-चक्र (Sentiment) है जिसके अंतर्गत भय, क्रोध, दुःख और आनन्द जैसे भावो का गूढ़

संश्लेप होता रहता है। शैंड की इस स्थापना का समर्थन शुक्लजी ने भी 'रस मीमासा' में किया है। किन्तु 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निवन्ध मे शुक्लजी का ध्यान न तो मनोविकार की मूल प्रवृत्तियों की ओर है और न वे अपत्य-प्रेम आदि जटिल मनोभावो का विवेचन करते है। प्रेम के लोकपक्षीय रूप का उद्घाटन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिक रही और ऐसा करते समय, वे, कर्म की प्रेरणा देने वाले प्रधान मनोवेग के रूप मे उसका निरूपण कर गये है। लोक-पक्ष मे जाने पर यही 'प्रेम', 'करुणा' 'उत्साह' आदि का जटिल सयोग बन जाता है। शुक्लजी इनके अलग-अलग विवेचन की ओर प्रवृत्त नही हुए।

साधारण बोली मे 'लोभ' शब्द का जैसा व्यवहार होता है उसे देखते हुए, उसकी गणना मनोविकारो मे नही की जा सकती—वह 'इच्छा' का ही कोई-न-कोई रूप है और 'इच्छा' को शैंड ने भाव का स्थान नही दिया। 'रस-मीमासा' में शुक्लजी भी इस मत से सहमत हो गये हैं। 'लोभ' मे 'इच्छा का तत्त्व कितनी दूर तक व्याप्त है, इस पर विचार करते हुए वे स्वयं कहते है—"इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि वह उसे चाहता है।" इससे सिद्ध हुआ कि लोभ शब्द से अन्य किसी भाव की सूचना नही मिलती वह प्रेम का ही सामान्योन्मुख रूप है, जिसमें इच्छात्मक अवयव प्रधान है। Love और लोभ को मूलतः एक मानकर शुक्लजी ने इसी तथ्य की ओर सकेत किया।

ईर्ष्या

ईर्ष्या की गणना, 'असूया' नाम से, हमारे यहां संचारियों मे की गई है; लेकिन शुक्लजी ने इस भाव का जो विश्लेषण किया उसे देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि शास्त्रीय संचारी भाव की सीमा मे ही इसका विवेचन किया गया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में इस भाव के

सूचक दो शब्द हैं—Envy तथा Jealousy, किन्तु इन दोनों शब्दो के प्रयोग में मनोवैज्ञानिक भी उतने सजग प्रतीत नही होते; ऐसा लगता है जैसे पश्चिम मे भी इन दोनो भावो के बीच मे कोई विभाजक रेखा न स्थापित की जा सकी हो। शुक्लजी के निबन्ध मे भी दोनो का मिश्रण हो गया है।

मैग्डूगल ने Envy को उतना जटिल भाव नही माना जितना Jealousy को, लेकिन मूल मनोविकारो में वे इनमें से किसी को नही ग्रहण करते। शेंड का भी यही अभिमत है। शुक्लजी ने प्रारभ में ही कहा है कि "ईर्ष्या की उत्पत्ति कई भावों के संयोग से होती है"—

यदि ईर्ष्या एक संकर भाव है तो प्रश्न यह होगा कि वे कौन-कौन से भाव हैं जिनका संयोग इसे संघटित करता है। मैग्डूगल के मत से 'क्रोध' और नकारात्मक अहकार (Negative self-feeling) ही Envy को जन्म देते हैं किन्तु Jealousy के लिये प्रेम-भाव का किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहना वे आवश्यक समझते हैं। शेंड ने चार भावों के संयोग से इसकी उत्पत्ति मानी है—

(१) भय, (२) क्रोध, (३) आत्म-रति और (४) लज्जा। इसमे 'लज्जा' का भाव ऐसा है जो कारण-स्वरूप नही होता किन्तु जहाँ कही भी ईर्ष्या उत्पन्न होगी वहाँ इसका सचार अवश्य हो जायेगा। देखा जाय, शुक्लजी किन भावो के संयोग से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। एक स्थान पर उन्होने लिखा है—

"ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी संप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है।" आगे कही उन्होने यह स्पष्ट नही किया कि आलस्य आदि का समावेश उस भाव के अंतर्गत कैसे हो जाता है, किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि मनोवैज्ञानिको ने जिन भावो को Self love और Negative self-feeling कहा उन्ही को शुक्लजी 'अभिमान' और 'नैराश्य' शब्दों से अभिहित करते हैं। 'आलस्य' का अस्तित्व उन्होने

इसलिए मान लिया है कि उनके मत से " ईर्ष्या में प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है।" किन्तु यह सभी जानते हैं कि 'आलस्य' किसी भाव का नाम नही, वह मन की एक स्थिति का वाचक मात्र है।

लेकिन उक्त तीन भावो के सश्लेष से ही ईर्ष्या की उत्पत्ति नही हो सकती, ऐसा शुक्लजी को भी मानना पडा है; तभी वे आगे चल कर लिखते है—

"ईर्ष्या में क्रोध का भाव किस प्रकार मिला रहता है इसका प्रमाण बराबर मिलता रहता है।" न जाने क्या सोचकर प्रारभ मे उन्होने इस भाव को ईर्ष्या के अतर्गत नही माना था। निबन्ध के अतिम अनुच्छेद मे तो उन्होने यह भी स्वीकार कर लिया है कि ईर्ष्या के साथ लज्जा का भाव लगा रहता है इसीलिए प्रत्येक मनुष्य उसे छिपाने का प्रयास करता है। शैंड ने भी 'लज्जा' का उल्लेख करते हुए ऐसा ही कहा था।

अब केवल एक ही ऐसा भाव बच रहता है जिसका समावेश ईर्ष्या के अतर्गत कुछ मनोविज्ञानियों ने माना और वह है—भय। शुक्लजी ने 'भय' अथवा 'आशंका' से उत्पन्न हुई ईर्ष्या को शुद्ध ईर्ष्या नही माना क्योकि उसके अंतर्गत आत्म-रक्षा का कुछ-न-कुछ भाव छिपा रहता है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह ऐसे लोगो से खुलकर ईर्ष्या करें जो उनको प्राप्त होने वाली चीज़ो को हथिया लिया करते हैं। यह ईर्ष्या बुरी नही मानी जा सकती। यह ठीक है कि इस प्रकार की ईर्ष्या बुरी नही समझी जाती, और इसमें जहाँ तक आत्म-रक्षा की प्रेरणा मिली रहती है वहाँ तक विशुद्ध ईर्ष्या नही मानी जा सकती, किन्तु जब ईर्ष्या को भाव न मानकर भाव-कोष मान लिया गया तब उसके अंतर्गत जितने भाव आयोजित होगे वे सभी ईर्ष्या के ही सयोजक माने जायेगे। ऐसी परिस्थिति मे भय अथवा आशका भी ईर्ष्या के मूल मे ही निहित समझे जायेगे, जैसा शैंड ने कहा है।

शुक्लजी द्वारा किये गये भाव-विवेचन को ऊपर दिये गये तुलनात्मक अध्ययन के साथ मिला कर देखने मे नीचे लिखी बातें स्पष्ट हो जाती है।

(१) इस विवेचन के ऊपर बीसवी शती के प्रारंभ तक के पाश्चात्य मनोविज्ञान का बड़ा गहरा प्रभाव है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस दिशा मे जो अभूतपूर्व कार्य यूरोपीय देशो मे हुआ उसका प्रभाव लगभग विश्व-व्यापी था। शुक्लजी भी उससे बच नही सकते थे। मनोवैज्ञानिको के सूत्रो को आधार रूप मे ग्रहण करके वे भावो का विवेचन सामान्य या लोकप्रिय पद्धति पर करते चले गये। इसलिए विद्वानो का ऐसा निष्कर्ष कि—

"इनमें (निबन्धों मे) न तो शुक्लजी ने रीति-शास्त्र के भाव-विवेचन को अपना आधार बनाया है, न पश्चिम के मनोविज्ञान को। उनकी स्थापनायें मौलिक हैं और न केवल साहित्य-शास्त्र को वरन् मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र को भी महत्त्वपूर्ण देन हैं।"

—सत्य नही प्रमाणित होता। ऊपर हमने देखा है कि लगभग सभी मनोविकारो के सम्बन्ध मे शुक्लजी ने मुख्यतया वही धारणाये व्यक्त की हैं जो उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे या बीसवी शताब्दी के प्रारभ में पश्चिम मे व्यक्त की गई थी। इसलिए उनकी तमाम स्थापनाओ को 'मौलिक' कहना और 'मनोविज्ञान' तथा 'समाज-शास्त्र' की 'महत्त्वपूर्ण देन' बताना भ्रामक जान पडता है।

(२) विवेचन करते समय शुक्लजी की दृष्टि लोक-व्यवहार और उपयोगिता, सामाजिकता आदि पर ही केन्द्रित रही है, इसलिए जटिल सिद्धान्तो के गूढ रहस्यो और भावो के अतर्वर्त्ती मूल स्वरूपो तक उनकी वैसी पहुँच सब जगह नही दिखाई पड़ती जैसी यूरोपीय मनोवैज्ञानिको की। स्थान-स्थान पर वे इस ओर संकेत करना नही भूलते कि अमुक भाव नाशकारी है अत. उसका विरोध होना चाहिये और अमुक भाव लाभकारी

है अतः अभ्यास द्वारा उसका विकास करना चाहिए। ऐसे वाक्य बीच-बीच में आया ही करते है—

"यह जानकर कि घृणा प्रेष्य मनोविकारों में से है लोगों को बहुत समझ-बूझ कर उसे स्थान देना और प्रकट करना चाहिये।"

व्यावहारिकता पर दृष्टि रखने के कारण ही लेखक ने भावों के अवान्तर भेदोपभेदों के निरूपण से बचने का प्रयास किया है। जटिल भावो के वे रूप (Abnormal) जो सामान्यतया लोगो मे नही पाये जाते प्रायः छोड़ दिये गये हैं; या कही-कही उनका उल्लेख-मात्र कर दिया गया है। भय, क्रोध, करुणा आदि की जिन बहु-सख्यक प्रवृत्तियो और स्वरूपो का उल्लेख स्पेसर, बेन, स्टाउट और शैंड आदि मनोवैज्ञानिकों ने किया है उन सबका विवेचन तो दूर, उल्लेख भी शुक्लजी के निबन्धों मे नहीं हुआ। कदाचित्, उनका उद्देश्य कुछ और था।

(३) इस विवेचन मे साहित्य-दृष्टि या काव्य-दृष्टि का विनियोग सर्वत्र मिलता है। कवियों की भाव-संपत्ति का परीक्षण करते समय, शुक्लजी की रस-दृष्टि जिन तथ्यो का आकलन कर सकी उनमे से अधिकांश अपने सैद्धान्तिक रूप में यहां विद्यमान हैं। भावो के सम्बन्ध मे जो धारणाये यहाँ व्यक्त की गई हैं, उन्ही का प्रयोग उनकी व्यावहारिक आलोचनाओ मे दिखाई पडता है। इन निबन्धो को देखने से प्रतीत होता है कि लेखक का ध्यान काव्य-सम्बन्धी प्रश्नो की ओर बराबर लगा हुआ है और कोई अवसर मिलने पर उदाहरण काव्य-क्षेत्र से ही चुन लिया जाता है। साहित्यिक-रुचि के साथ-साथ इसका एक कारण यह भी था कि भावो के जितने सुन्दर उदाहरण साहित्य मे और विशेषकर काव्य में उपलब्ध हो सकते थे उतने अन्यत्र नही। साहित्य से उदाहरण चुनने की लगभग ऐसी ही उत्कट प्रवृत्ति शैंड मे भी दिखाई पड़ती है। 'प्रेम' भाव की संश्लिष्टता को प्रमाणित करने के लिए उनकी पुस्तक मे कई कवितायें, उद्धृत कर दी गई है। अन्य प्रसगो मे भी काव्य और नाटको

से उदाहरण लिये गये है । कदाचित् इसीलिए शुक्लजी के प्रिय मनोवैज्ञानिकों में सबसे ऊँचा स्थान शैंड का है । दोनो आचार्यों के निरूपण में मुख्य भेद यह है कि जहाँ काव्य-सम्बन्धी उद्धरणों का आश्रय लेकर शैंड अपनी मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों तक पहुँचते हैं वहाँ शुक्लजी मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को साहित्यिक संदर्भ मे बिठा कर तृप्ति-लाभ करते हैं ।

(४) शुक्लजी की प्रवृत्ति कविताओ से उदाहरण चुनने ही की नहीं है अपितु अनेक स्थलो पर भाव-विवेचन को काव्य-शास्त्र से जोड़ देने की भी है । वे पाश्चात्य मनोविज्ञान के निष्कर्षों एवं उपपत्तियो को भारतीय रस-शास्त्र की परिभाषा में ढालने का प्रयास करते रहते है । इसीलिए काव्य-शास्त्र की प्राचीन शब्दावली इस प्रसंग मे वार-वार सामने आया करती है—कही इस वात पर विचार होता है कि 'उत्साह' का आलम्वन कौन है और कही इस पर कि स्थायी-संचारी भावों के विवेचन का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ।

(५) उन्होंने इस भाव विवेचन के लिए जो निबन्ध लिखे उन्हे हम विशुद्ध साहित्यिक निवन्धो के रूप मे ही ग्रहण कर सकते है—मन.शास्त्र के रूप में नही। जैसा ऊपर दिये हुए अनेक उद्धरणो से प्रमाणित है, इनकी सामग्री अधिकतर मनोविज्ञान के क्षेत्र से ली गई है और उसे साहित्य-रस से सींचकर निवन्धों के रूप में ढाल दिया गया । इसलिए, यदि हम, विषय के सम्पूर्ण विस्तार का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही दे वैठे, तो केवल पाश्चात्य मनोविज्ञान के साथ ही नही बल्कि उनके साथ भी अन्याय होगा ।

निबन्ध का रचना-विधान :

ऊपर संक्षेप मे शुक्लजी के निबन्ध-लेखन का क्रमिक विकास दिखाने के साथ-साथ उनके निबन्ध-साहित्य का परिचय भी दिया गया है। आगे उनकी विशिष्टताओ के उद्घाटन का प्रयास किया जा रहा है।

मौलिकता—सबसे पहली बात है, लेखक का मौलिक चिन्तन और तर्क-योजना। शुक्लजी की सबसे बडी विशेषता यही थी कि किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय उस मूल तत्त्व को पकड़ लेते थे जिसके इर्द-गिर्द सारी समस्याएँ घूमती रहती थी। प्रश्न को हल करने मे बाधा उत्पन्न करने वाले उपकरणों को उनकी सहज बुद्धि तुरन्त पहचान लेती थी। इसीलिए उनकी तर्क-योजना इतनी प्रबल बन सकी। उनकी मौलिकता इस बात मे दिखाई पड़ती है कि दूसरे के विचारो को भी अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार कर पाते थे और नूतन उद्भावना करने में अक्सर समर्थ होते थे। हम अन्यत्र कह आये हैं कि मनोविकारो पर लिखे हुए निबन्ध भी पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, कुछ समानान्तर उद्धरणों से भी यह सिद्ध कर चुके हैं कि भाव की प्रवृत्तियो, स्वरूपों और प्रतिक्रियाओं आदि के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं वे अधिकतर पश्चिमी मनोविज्ञान मे निरूपित थी, किन्तु हमने यह सकेत भी दे दिया है कि इन निबन्धो को साहित्यिक निबन्ध (Abstract literary essays) के रूप में ही देखना चाहिए। इन निबन्धो मे शुक्लजी की मौलिकता इस बात मे नही दिखाई पड़ती कि उन्होने मनोविज्ञान सम्बन्धी कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया या भावों के स्वरूप, वेग आदि के सम्बन्ध मे नूतन स्थापनायें दी। उनकी मौलिकता इस बात मे है कि मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सूत्रो और निष्कर्षो को लेकर, व्यावहारिक जीवन में उनका विनियोग करते

हुए साहित्यिक निबन्ध लिखे, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई सफल साहित्य-कार विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों को लेकर स्वतंत्र साहित्यिक निबंन्ध लिखे जिसमें व्यावहारिक जीवन का समावेश पूरा-पूरा हो सके। ऐसे निवन्धों के लिए सामग्री, मनोविज्ञान से ही नहीं जीवन के किसी भी ज्ञान-क्षेत्र से चुनी जा सकती है। उस चुनी हुई सामग्री के लिए ऐसे लेखक को मौलिकता का श्रेय नही दिया सकता; सामग्री के साहित्यिक विनियोग के लिए ही दिया जा सकता है। यह वात इतना जोर देकर इसलिए कहनी पड़ती है कि अनेक विद्वान् वेकन के मनोविकार सम्वन्धी निवन्धों से शुक्लजी की निवन्धो की तुलना करते समय कुछ ऐसा विश्वास उत्पन्न करने का प्रयास करते दीख पडते है कि शुक्लजी के विवेचन में अधिक व्यापकता, पूर्णता और वैज्ञानिकता है। इस तुलना मे यह वात बिल्कुल भुला दी जाती है कि वेकन के निवन्ध सोलहवी शती में लिखे गये थे जव मनोविज्ञान नाम की किसी चीज़ का अस्तित्व ही नही था। वेकन ने जो-कुछ लिखा वह अविकतर जीवनानुभव के रूप मे है। उदाहरण के लिए 'ईर्ष्या' के विवेचन मे उसने तीन प्रश्नों पर विचार किया—ईर्ष्या कौन करता है? ईर्ष्या किससे की जाती है? और समाज को ईर्ष्या से हानि-लाभ क्या हैं? आज कोई नहीं कह सकता कि यह 'ईर्ष्या' नामक भाव का वैज्ञानिक निरूपण है। किन्तु शुक्लजी ने इसी शीर्षक से जो निवन्ध लिखा उसमें 'भाव' के स्वरूप, लक्षण, प्रवृत्ति आदि का विस्तृत निरूपण है। हम भाव-विवेचन के प्रसंग मे दिखा आये हैं कि यह विस्तार अधिकतर मनोविज्ञान के क्षेत्र से ही लिया गया है जो पश्चिम मे विकसित हुआ। यदि वेकन के पहले भी मनोविज्ञान की लम्वी परम्परा होती और भावों का सूक्ष्म विश्लेषण उसके भीतर हो चुका होता तो उनके निवन्धों का स्वरूप कुछ और ही होता। इसलिए विद्वानो के लिखे हुए ऐसे वाक्यों से भ्रम की आशंका बहुत है:—

"सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी में 'बेकन' ने मनोविकारों पर लघु निबन्धों के रूप में अवश्य चिन्तन किया है पर जितनी पूर्ण विवेचना शुक्लजी के निबन्धों में पाई जाती है, उतनी उनमें कहाँ ?" शतांश भी नही है—विनयमोहन शर्मा

हम पहले देख चुके है कि शुक्लजी की 'पूर्ण विवेचना' के लिए बहुत कुछ आधार पश्चिमी मनोविज्ञान ने ही प्रस्तुत किया ।

बुद्धि और हृदय का योग—दूसरी बात जो इन निबन्धों मे अत्यन्त परिस्फुट है, और जिसके कारण साहित्यिक स्वारस्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हो गई है, यह माननी पडेगी कि इनमे 'हृदय' और 'बुद्धि' का मणि-काञ्चन योग है । प्रारभ मे स्वयं लेखक ने ही लिख दिया है कि यात्रा पर बुद्धि ही निकलती रही है पर हृदय को साथ लेकर । बुद्धि ने मार्ग निकाला और तय किया किन्तु हृदय अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अवसर मिलते ही कुछ-न-कुछ गुनगुनाता चला गया । मनोविकारो पर लिखे गये निबन्धों मे हृदय की यह गूँज कुछ अधिक सुनाई पडती है; साहित्यिक निबन्धो मे अपेक्षाकृत कुछ कम । किन्तु यह मानना असंगत होगा कि साहित्यिक निबन्धो मे कोरा तर्क और विश्लेषण है, शुष्क प्रतिपादन है । शुष्क प्रतिपादन तो उनके साहित्य-मात्र मे नही है फिर भी उनके सभी निबन्ध विचारात्मक ही कहे जायेगे । हृदय का योग तो यात्रा-जनित श्रम के परिहार के लिए लिया गया । और साहित्यिक स्वारस्य की रक्षा करते हुए लेखक ने पाठको को गंभीर-विचारो की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया । यदि पाठक प्रत्येक वाक्य पर ध्यान देता चला जाय और नियोजित तर्क-शृंखला की किसी कड़ी को न छोड़े तो उसे सम्पूर्ण विचारधारा को हृदयंगम करने मे कोई कठिनाई नही होगी; बीच-बीच के भावुकता प्रधान प्रसंगों मे रम जाने के कारण उसे मधुर तन्मयता का भी अनुभव होगा । किन्तु यदि वह

विचार-श्रृंखला की किसी कड़ी को छोड़ देता है तो उक्त निबन्धो की पूरी तर्क-योजना को ग्रहण करना कठिन होगा। शुक्लजी के निबन्धों मे अधिक गम्भीरता या दुरूहता का अनुभव केवल वही पाठक कर सकते हैं जो उनके विचार-क्रम की उपेक्षा करते हैं और ऐसे लोग ही उनमे शुष्कता का आभास पाते हैं।

गूढ़-गुम्फित विचार-परम्परा—उपर के विवरण से तीसरी बात यह स्पष्ट हो जाती है कि उक्त निबन्धो मे विचारो की क्रमबद्ध एवं 'गूढ-गुम्फित' परम्परा है। शुक्लजी के 'लेखन' की शैली सम्बन्धी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि केवल अनुच्छेदों ही नहीं वाक्यो तक के पूर्वापर क्रम में जनक-जन्य सम्बन्ध स्थापित होता चला गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछला वाक्य अगले वाक्य को या पिछला अनुच्छेद अगले अनुच्छेद को स्वय ही आविर्भूत कर देता है। यह सम्बन्ध भी इतना सघन और नीरंध्र है कि उसके बीच विचारो की कोई दरार नही रहती और न ही किसी शब्द के निकालने की आवश्यकता रहती है। उस 'गूढ़-गुम्फ' में से किसी वाक्य को तो क्या किसी एक शब्द को भी बाहर निकाल लेना कभी-कभी विचार-परम्परा और शैली दोनों को कलुषित कर सकता है। शुक्लजी के प्रारम्भिक निबन्धो मे यह चीज बहुत कम विकसित थी किन्तु बाद वाली रचनाओं में इसका पूर्ण विकास हो गया। ध्यान मे रखने की बात है कि यही वह विशेषता है जिसे ग्रहण करने के कारण शुक्लजी के निबन्धों का गौरव बढ गया है। विचारो की मौलिकता और वैज्ञानिकता की बात को अगर अलग रख दिया जाय तो भी केवल इसी गुण के कारण उनका महत्त्व अक्षुण्ण रह सकता था।

पूर्व-पक्ष की योजना—इसी विशेषता के साथ महत्त्व की बात यह भी है कि विषय-विवेचन अथवा सिद्धान्त प्रतिपादन की शैली और उसके लिए गृहीत तर्क-योजना भी अत्यन्त पूर्ण और अकाट्य

जान पड़ती है। किसी विषय अथवा सिद्धान्त के शास्त्रीय विश्लेषण के लिए उसका ठीक-ठीक स्वरूप आँकना और उसके सम्बन्ध मे पूर्व-पक्ष का सर्वांगपूर्ण विधान अत्यन्त आवश्यक है। जब तक पूर्व-पक्ष के सभी तर्कों को प्रस्तुत नही किया जायेगा तब तक उत्तर-पक्ष के विधान की कोई संभावना हो ही नही सकती। एक क्षण के लिए पूर्व-पक्ष की दुर्बलताओं का लाभ उठकर स्वपक्ष का प्रतिपादन और स्थापन अवश्य हो सकता है, किन्तु शास्त्र-चिन्तन की परम्परा मे ऐसा 'स्थापन' कही टिक नही सकता। शुक्लजी के विचार-क्रम मे जितना 'गूढ़-गुम्फ' है उनकी प्रतिपादन शैली मे भी उतना ही अधिक घनत्व और दृढता दिखाई पडती है। उनकी तर्क-योजना मे दरार या विरोध अत्यन्त विरल है। प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करने में वे पूर्ण सयम से काम लेते हैं और जहाँ तक हो पाता है उसके सभी संभावित तर्कों की परिकल्पना कर लेते है, तदुपरान्त अत्यन्त दृढ और निर्भीक स्वर मे स्वपक्ष का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। जैसा जैनेन्द्रजी ने बताया है, वे चौहद्दी बांधकर अपने विपक्षी को पहले ही घेर लेते है, और जब वह कही भाग निकलने मे सर्वथा असमर्थ हो जाता है तब उसे अपने प्रहार से क्षत-विक्षत कर देते है। पाठक उनके विचारों से सब कही सहमत हो या न हो किन्तु उनकी दुर्निवार प्रतिपादन-शैली और अकाट्य तर्क-योजना का कायल वह अवश्य होगा। इसका परिणाम यह भी होता है कि साधारण कोटि के पाठक विचारों के तीव्र प्रवाह मे पड़े रहने के कारण तर्कों की उन दुर्बलताओं को नही पकड़ पाते जो कही-कही मीमांसकों को दिखाई पडती है। अंतर्विरोध प्रायः प्रत्येक व्यक्तित्व मे होता है, वह किसी सीमा तक शुक्लजी मे भी है, किन्तु विचारो के तीव्र वेग और चिंतन की धारावाहिक गति के कारण उसे सहज भाव से लक्ष्य नही किया जा सकता।

विषय-सम्बद्धता—विचारों के इस धारावाहिक क्रम में विषयांतर के लिये कोई अवकाश नही। उनके निबन्धों में मुख्य विषय से किसी-न-किसी प्रकार संबद्ध रहने वाले विषय ही आते है। बहुत कम ऐसे अवसर मिलेगे जब प्रधान-विचार-सूत्र को छोड़कर किसी अनपेक्षित प्रसंग का निरूपण अथवा किसी महत्त्वहीन प्रकरण का विस्तार उन्होंने किया हो। यदि किसी विशेष प्रकरण को पुष्ट या स्पष्ट करने के लिये किसी अन्य प्रसंग का लाना अनिवार्य हुआ तभी उसका समावेश करते है अन्यथा नही। उनके निबन्धो मे विचारो की सघनता होने का सबसे प्रमुख कारण यही है।

व्यक्तित्व का प्रक्षेपण—शुक्लजी मुख्यतः विषय-प्रधान निबन्धो के रचयिता हैं—विषय-विश्लेषण और सिद्धान्त स्थापन ही उनका प्रधान लक्ष्य है; किन्तु यह स्वीकार नही किया जा सकता कि वे नितान्त तटस्थ विवेचक हैं दूसरे शब्दों में, उनके निबन्धों में हमें उनका व्यक्तित्व साफ दिखाई पड़ता है। एक विशिष्ट प्रकार की विचारधारा के साथ-साथ तद्वत् भाषा और शैली का संयोग; और उन दोनों के ऊपर भासमान होने वाला लेखक का अडिग आत्म-विश्वास जिसके भीतर एक ओर प्रतिपक्षी के खण्डन का आवेश तथा दूसरी ओर स्वपक्ष के सस्थापन का आवेग भी सम्मिलित रहता है—यही है उनका व्यक्तित्व जो उक्त रचनाओं मे अत्यन्त मुखर है। प्राधान्य व्यक्ति का माना जाय अथवा विषय का, यह बात कदाचित् उनके सामने भी स्पष्ट नही थी। इसीलिये चिन्तामणि के निवेदन में उन्होने लिखा कि—

"इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठको पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।"

लेकिन निबन्धो को ध्यान से देखने पर यह ज्ञात हो जाता है कि इनमे लेखक का व्यक्तित्व भले ही उद्भासित हो सका हो किन्तु उसक।

प्रक्षेपण इतना अधिक नही हुआ है कि विषय-विवेचन को गौणता प्राप्त हो गई हो। पाठक को प्रस्तुत वस्तु की विचारणा में ही डूबने का अवसर मिलता है लेखक के अप्रत्यक्ष व्यक्तित्व के साथ घनिष्टता बढाने का संयोग उसे कम मिल पाता है। इसलिये निबन्धों को एक ओर तो विचारात्मक और दूसरी ओर विषय-प्रधान कहना ही अधिक युक्ति-युक्त है।

निबन्धो के भीतर लेखक का व्यक्तित्व वैयक्तिक घटनाओं के समावेश से भी परिस्फुट हुआ करता है। यदि ऐसे प्रकरण अधिक आने लग जाये जिनमे लेखक के अपने अनुभवो का प्रमाण लिया गया हो तो। विपय से अधिक प्रधानता निबन्धकार के व्यक्तित्व को ही मिल जायेगी। स्वानुभव के आधार पर विषय का निरूपण तो सभी लेखक करते है किन्तु अपने अस्तित्व का वार बार वोध कराते रहने से पाठक के मन पर लेखक ही छा जाया करता है। शुक्लजी के निबन्धों मे ऐसे सकेत बहुधा आ जाया करते हैं किन्तु प्रसंग मे उनकी अनिवार्यता का अनुभव प्रायः प्रत्येक पाठक करेगा। विषय के स्पष्टीकरण के लिये ही वे इन प्रसंगो का सन्निवेश करते हैं, क्षेपक जोड़ना उनका लक्ष्य नही। नीचे लिखे वाक्य प्रसंग के भीतर अपनी उपयोगिता स्वयं प्रमाणित करते हैं—

"मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है।"

"वसन्त का समय था। महुए चारो ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है। इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा—"यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से वावूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।"

[चिन्तामणि भाग १, पृ० ७८]

गद्य-शैली :

विम्ब-विधान—शुक्लजी के गद्य की सबसे बड़ी विशेषता है विम्ब-विधान। ऐसा लगता है जैसे प्रत्येक विचार भाषा में आबद्ध होने से पूर्व उनके मन मे ही बिम्ब रूप में परिणत हो जाता है। वे धारणा-मात्र उत्पन्न करने के स्थान पर ˙केत-ग्रहण कराने का प्रयास करते है; सूक्ष्म का स्थूल मूर्ति-विधान करते है।

लोकोक्तियों, मुहावरो, लाक्षणिक प्रयोगो और अप्रस्तुत योजनाओं द्वारा विषय का गोचर प्रत्यक्षीकरण उनके गद्य मे सर्वत्र पाया जाता है। ‥य मे जिस विम्ब-ग्रहण को वे इतना अनिवार्य मानते थे वही उनके गद्य में अनेक स्थलो पर उपस्थित हो जाय तो क्या आश्चर्य? उक्त विशेषता को गद्य के उदाहरण से समझाते हुए उन्होने कहा था कि "'समय बीता जाता है।' की अपेक्षा 'समय भागा जाता है।' कहना (कविता) अधिक पसन्द करेगी।" भाषा का यह लाक्षणिक विधान उनके गद्य-साहित्य मे भी अक्सर दिखाई पड़ता है। 'चिन्तामणि' के निम्नांकित वाक्य उदाहरण-स्वरूप हैं—

"यही वाहर हँसता-खेलता रोता-गाता, खिलता-मुरझाता, जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं।"

"ये स्मारक न जाने कितनी बातें अपने पेट मे लिये कहीं खड़े, कहीं बैठे, कहीं पड़े हैं।"

"ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिसमें अपने दोषों को झुक-झुक कर ही नहीं, उठा-उठा कर देखने की भी प्रवृत्ति होती है…।"

उक्त वाक्यो मे तर्क-वल नही है। वे लेखक के मंतव्य को, विश्लेषण के सहारे मनवाने का विधान नही करते अपितु कल्पना मे वस्तु

का साकार रूप उपस्थित करके राग-तन्तुओं को स्पर्श करने का प्रयास करते है। उसकी बोध-वृत्ति को न पकड़कर, आस्था या विश्वास को वक्तव्य वस्तु के प्रति सजग करते हैं।

व्यंग्य विनोद—व्यंग्य और विनोद का आश्रय पर-पक्ष के खण्डन के लिये, शुक्लजी अक्सर लेते हैं। उनके गंभीर निबन्धों में इसके लिये इतना अधिक अवकाश निकल आता है, यह कम विस्मय की बात नही। जो पाठक उनकी वक्तव्य वस्तु के विरुद्ध सोचते है उनके ऊपर इन व्यंग्यों का कैसा उद्वेग-जनक प्रभाव पड़ता होगा वह केवल अनुमान की वस्तु है ; किन्तु जो लोग उनसे सहमत हैं उन्हें तो ऐसा प्रतीत होगा कि उनके मन का सारा आक्रोश और सारी घृणा लेखक की वाणी में फूट पडी है। यह व्यग्य भी मनोरागों को ही जगाता है—प्रतिपक्षियों मे क्रोध और अशांति तथा समर्थकों में अनुराग और श्रद्धा। 'कविता क्या है ?" शीर्षक लेख का अन्तिम वाक्य 'जानवरों को इसकी जरूरत नहीं' उन लोगों के ऊपर बडा क्रूर व्यग्य है जो समाज में कवियों और कविताओं को अनावश्यक तथा हानिकारक समझते है।

नवीनता-प्रेमी कवियों और लेखको को लक्ष्य कर अपने व्यंग्य को और भी स्थूल और कठोर करते हुए उन्होने कहा—

"दिन में सैकड़ो बार 'हृदय की अनुभूति' 'हृदय की अनुभूति' चिल्लायेंगे, पर 'रस' का नाम सुनकर ऐसा मुँह बनायेंगे मानो उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आए है। भले मानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर 'हृदयवाद' लेकर सामने न आते। संभव है इसका पता पाने पर कि 'हृदयवाद' तो 'रसवाद' ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें।"

[चिन्तामणि भाग २, पृ० १८९]

रहस्यवादियों या निर्गुणियों के ऊपर व्यंग्य करते हुए उन्होने कहा कि—

"जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए। वहीं ऐसी अनुभूति पर विश्वास करने वाले मिलेंगे।"

[चिन्तामणि भाग २, पृ० ६३]

व्यग्य-विनोद के द्वारा शुक्लजी केवल अपने आक्रोश को ही नही व्यक्त करते अपितु विषय के स्वरूप का विश्लेषण कभी करते चलते हैं जो उनका मुख्य लक्ष्य है। ऊपर के उद्धरणो मे तथ्य-निरूपण की यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रत्यक्ष है। उनके निबन्धो मे साहित्यिक स्वारस्य का विधान भी बहुत कुछ ऐसे ही प्रसंगों द्वारा सभव हुआ है।

भाषा की समाहार शक्ति :

निबन्धों में आये हुए सूत्रात्मक वाक्य शुक्लजी की भाषा की समाहार शक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। निबन्ध को ही वे गद्य की वास्तविक कसौटी भी मानते हैं। 'शब्द' और 'अर्थ'-परम्परा का इतना सतर्क आयोजन और ऐसा पूर्ण सामजस्य हिन्दी-गद्य मे अत्यन्त विरल है। बहुत कम निबन्ध-लेखक इस क्षेत्र मे उनकी समता कर सकते हैं। केवल कुछ उदाहरण ही इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होंगे।

"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है" "श्रद्धा महत्त्व की आनन्द-पूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।" "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।" "प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है, पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है।"

"अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से इन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है, उसे घृणा कहते हैं।"

"किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभ-कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते है।"

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है।"

सूत्र-वद्ध भापा से केवल इतना ही बोध नहीं होता कि लेखक का शब्दों के ऊपर बहुत अच्छा अधिकार है, वल्कि यह वात भी सिद्ध होती है कि विषय की अत्यन्त पुष्ट धारणा उसके मन मे है। जिसने विवेच्य विपय के पूर्ण विम्व को हृदयगम नही किया हैं वह उसे पाठको के मानस मे कैसे उतार सकेगा। ऊपर के वाक्य इस वात को स्वयं प्रमाणित कर देते हैं कि शुक्लजी का भाषा पर जितना अच्छा अधिकार था उसके कही अच्छा अधिकार ग्रहीत विपय के ऊपर था।

भाषा का स्वरूप :

उनके निबन्धो मे भाषा का प्रवाह विषयानुकूल दिखाई पड़ता है। जहाँ गभीर विश्लेषण की अपेक्षा रहती है वहाँ वे सस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करते है; विपय का स्पष्टीकरण ही जहाँ लक्ष्य रहता है वहाँ वोलचाल के शब्द प्रायः आ जाते है और जहाँ व्यंग्य-विनोद का प्रसंग आता है वहाँ उर्दू के शव्दो की छटा दिखाई पड़ती है। यह बात ध्यान देने की है कि, गभीर भापा प्रायः अनुच्छेद के प्रारम्भ मे रहती है, बोलचाल की भापा वीच मे और उर्दू मिश्रित व्यगमय प्रयोग सबसे अन्त मे। इस क्रम के अपवाद भी हो सकते है और है, किन्तु अधिकतर पाठको को इसका निर्वाह दिखाई पडेगा। एक अनुच्छेद से तीनों के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

पहला वाक्य—

"मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से और कर्म से।"

बीच का वाक्य—

"सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य-क्षेत्र ! यहाँ न माया छोड़ी जायेगी तो कहाँ छोड़ी जायेगी।"

अन्तिम वाक्य—

"पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं भूल-चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।"

ऊपर शुक्लजी के निबन्धो के विषय, गठन, रचना-सौष्ठव और भाषा आदि का जो परिचय दिया गया है उससे उनकी योग्यता, मौलिकता और वास्तविक शक्ति का ज्ञान होता है। निबन्धो का इतना सुगठित रूप, विचारों का ऐसा गूढ-गुम्फित विन्यास, पूर्वापर वाक्यों का ऐसा जनक-जन्य सम्बन्ध पाठको के श्रम का परिहार करने वाले व्यंग्य-विनोद का ऐसा रसात्मक विनियोग और 'शब्द' तथा 'अर्थ'-परम्परा को ध्यान मे रखते हुए हिन्दी-गद्य का इतना सुष्ठु प्रयोग हमारे साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है।

———

अध्याय : : ४

इतिहासकार शुक्ल

पूर्ववर्त्ती इतिहासकार—

आचार्य शुक्ल से पूर्व हिन्दी-साहित्य के चार ऐसे इतिहास विभिन्न समयो पर लिखे जा चुके थे जो इतिहास-लेखन के चार सोपानो का निर्माण करते हैं। फ्रासीसी लेखक गार्सा-द-तासी ने सन् १८३७ ई० मे हिन्दी-साहित्य का पहला कवि-विवरण तैयार किया था। इसे हिन्दी-साहित्येतिहास का सूत्रपात कह सकते हैं। तत्पश्चात् श्री शिवसिंह सेंगर ने, सन् १८८३ ई० मे 'शिवसिंह सरोज' नाम से हिन्दी कवियो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। आगे के इतिहास-लेखको के लिये इसने आकर-ग्रंथ का कार्य किया। डॉ० ग्रियर्सन ने सन् १८८९ ई० मे अपना इतिहास प्रकाशित करके कवि-विवरण को कवि-विवेचन की ओर अग्रसर किया। शुक्लजी ने अन्तिम दोनो ग्रथो को 'कवि-वृत्त-संग्रह' ही कहा। 'सरोज' के सम्बन्ध मे उनका कथन ठीक है किन्तु डॉ० ग्रियर्सन का इतिहास आज विधेयवादी प्रणाली का पहला इतिहास माना जाने लगा है। चौथा प्रयास मिश्र-बन्धुओ का 'मिश्र-बन्धु-विनोद' है जो १९१३ ई० मे प्रकाशित हुआ। विवरण की दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु साहित्येतिहास की वैज्ञानिक पद्धति को अग्रसर करने मे इससे विशेष सहायता नही मिली। शुक्लजी ने इसे विशाल 'कवि-वृत्त-संग्रह' कहकर ठीक ही किया था।

इन इतिहासो की निम्नांकित सीमाये आज अत्यन्त प्रत्यक्ष है। आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन की सबसे बडी सफलता इन सीमाओं से ऊपर उठ जाना ही है।

(१) पहली सीमा है विवरण एकत्र करने में इतिहास के विवेक का अभाव। अतिप्राकृत घटनाओं और चमत्कारिक जनश्रुतियों का अनपेक्षित संकलन करके कवि-परिचय के कलेवर को बढ़ा दिया गया है। बाद के दो ग्रन्थों मे विवरण की पूर्णता और ऐतिहासिकता का भी ध्यान रखा गया है। इसमें संदेह नही कि सामग्री और विवरण का संग्रह भी इतिहास लेखन की प्रमुख और अनिवार्य शर्त है किन्तु उससे ही इतिहास-निर्माता के कर्मों की इतिश्री नही हो जाता। उससे केवल, आधार-भूमि का ही निर्माण होता है।

(२) उपलब्ध सामग्री के वैज्ञानिक वर्गीकरण की प्रवृत्ति उक्त ग्रन्थों में नही मिलती। अकारादि क्रम से कवियों के विवरण एकत्र करना तो इतिहास के लिए नितान्त असगत है; 'विनोद' मे वर्गीकरण का जो प्रयास किया गया उसका भी कोई संगत आधार नही दिखाई पडता। लेकिन साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में जिन नई धारणाओं का विकास क्रमशः हो रहा था और सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री को विभाजित करने की जिस आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था उसका सूक्ष्म-संकेत उस ग्रन्थ में अवश्य मिल जाता है।

(३) उक्त चारों ग्रंथो मे से किसी में भी साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण की चेष्टा नही दिखाई पड़ती, ग्रियर्सन और "विनोद" में कभी-कभी इस दिशा की ओर झुकाव अवश्य दीखता है किन्तु वह इतना अल्प है कि पाठक किसी भी प्रवृत्ति का परिस्फुट रूप हृदयंगम नहीं कर सकता। प्रवृत्तियो के साथ सम्बद्ध न होने के कारण कवियो की आलोचना भी बिखरी-बिखरी-सी लगती है।

(४) सम्पूर्ण साहित्य अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों को जीवन के अविभाज्य अग के रूप मे दिखाने की चेष्टा नहीं की गई। जिस सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिवेश में साहित्य-सृजन हुआ, उसका साहित्य के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप सम्बन्ध है, इस तथ्य की

प्रत्यक्ष चेतना उक्त ग्रंथकारों में नही मिलती। इसीलिए राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक परिवेश का निरूपण और साहित्य की स्रोतस्विनी के साथ उसका घात-प्रतिघातमय अविच्छिन्न सम्बन्ध शायद ही कही व्यक्त हुआ हो।

(५) जब प्रवृत्तियों का निरूपण और जीवन के साथ उनके विकास-शील सम्बन्ध का विवेचन नही मिलता तब उक्त ग्रन्थों मे साहित्यधारा के अविच्छिन्न प्रवाह को ढूँढ़ना व्यर्थ ही होगा। उनमें कुछ प्रसिद्ध कवियो की आलोचना और प्रवृत्तियो के किंचित् निरूपण का यत्र-तत्र संकेत भले ही मिल जाय, परन्तु उस व्यापक एकसूत्रता का सर्वथा अभाव है जो सम्पूर्ण ग्रन्थराशि को साहित्य के इतिहास के रूप मे ढाल सके।

आधार-सामग्री—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व इतिहास-लेखन सम्बन्धी उपलब्धियाँ कम ही थी। उन उपलब्धियों की आधार-भूमि पर उनके इतिहास का निर्माण हुआ। शुक्लजी के समक्ष सामग्री-सम्बन्धी नूतन अनुसन्धानों की समस्या उतनी नही थी जितनी प्राप्त सामग्री के समुचित व्यवस्थापन की। उन्होंने स्वयं कहा है —"सात-आठ सौ वर्षो की संचित ग्रन्थ-राशि सामने लगी हुई थी; पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्‌भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।" सामग्री-संचय के महत्त्व से भी वह परिचित थे किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है 'संग्रह-श्रम' उनकी रुचि के अनुकूल नही पडता था। यह उन्होंने स्वयं ही स्वीकार भी किया था। दूसरी बात यह भी थी कि इतने बड़े इतिहास के निर्माण के लिये जितनी सामग्री और समय अपेक्षित था वह आचार्य को प्राप्त न हो सका क्योंकि "एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा, और केवल आवश्यक उपादान सामने रखकर यह कार्य

पूरा किया गया।' सामग्री के पांच मुख्य स्रोतो का उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है—

(१) मिश्र-बन्धु-विनोद, (२) नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज रिपोर्ट, (३) हिन्दी कोविद-रत्नमाला (बाबू श्यामसुन्दर दास), (४) कविता-कौमुदी, (५) ब्रजमाधुरी-सार। इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन-नवीन पुस्तको का उपयोग भी किया गया जिनका यथावसर उल्लेख इतिहास मे कर दिया गया है। १९२९ के जनवरी महीने मे पहली बार यह इतिहास हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका के रूप मे प्रकाशित हो चुका था—पुस्तक रूप मे निकलते समय इसमे आदि और अन्त के कई प्रकरण बढा दिये गये और बाद के सशोधित और प्रवर्द्धित सस्करण मे तो 'आदिकाल' और आधुनिककाल के भीतर बहुत-सी नई सामग्री जोड़कर ग्रन्थ को भरा पूरा बनाने का प्रयास किया गया।

वर्गीकरण—

जैसा ऊपर कहा गया है, शुक्लजी के इतिहास-लेखन का महत्त्व वर्गीकरण और व्यवस्थापन मे ही है, सामग्री के सकलन मे नही। इतिहास के ढांचे का निर्माण करते समय उन्होंने तीन सूत्रो को सदैव ध्यान मे रखा।

(१) "जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता चला जाता है।"

(२) "इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही" इतिहासकार का मुख्य कर्त्तव्य है।

(३) 'कारण-स्वरूप इन (राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक) परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है।'

कहना नही होगा कि उपर्युक्त तीनो सूत्रो का पूर्ण निर्वाह हो जाने पर इतिहास के व्यवस्थित ढांचे के निर्माण की समस्या ही पूरी नही हो

जाती अपितु 'साहित्य के वास्तविक इतिहास के लेखन का कार्य भी सम्पन्न हो जाता है।

ये तीन सूत्र ही साहित्येतिहास की विधेयवादी प्रणाली का निर्माण करते है। इस प्रणाली का उद्‌भावन फ्रांसीसी लेखक टेन (Taine) ने किया था। इसका सफलतापूर्वक विनियोग करके आचार्य शुक्ल ने इतिहास-लेखन की अद्‌भुत शक्ति प्रमाणित की।

काल-विभाजन—

काल-विभाजन मे उन्होंने दो बातों पर ध्यान रखा (१)—किसी विशेष युग में अधिकता से पाई जाने वाली रचनायें (संख्या की दृष्टि से), (२) लोकप्रिय रचनाये। अधिकता से पाई जाने वाली रचनाओ के आधार पर युग-विभाजन युक्ति-संगत है; किन्तु जो रचनायें उस कोटि मे नही आ पाती उन्हे कहाँ ले जाया जाय यह व्यावहारिक प्रश्न बना ही रह जाता है। शुक्लजी ने उन्हे 'फुटकल' खाते मे डाला है। इसी प्रकार जो लोकप्रिय रचनाये है वे इस बात की सूचना अवश्य देती है कि उस युग मे जनता की चित्तवृत्ति कैसी थी, कैसी बातो के संरक्षण की ओर उसकी प्रवृत्ति थी और किस साहित्य-धारा के साथ उसके चित्त का लगाव था; किन्तु जो रचनाये किसी भिन्न प्रवृत्ति के अस्तित्व की सूचना देती हो लेकिन किसी कारण वश अपने युग में लोकप्रिय न हो सकी हो वे यदि अनुसन्धान के फलस्वरूप आगे चलकर उपलब्ध हों तो कही-न-कही स्थान पाने की अधिकारिणी अवश्य होगी। और यदि स्थिति यह हो जाय कि ऐसी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक होने लगे तो क्या यह सम्भव नही कि ये उस विशेष युग के नामकरण को ही प्रभावित करने लग जायें? यदि बात ऐसी हो कि पुस्तके लोकप्रियता न प्राप्त करने के कारण ही लुप्त हुई हों या 'कोने में पडी' रह गई हो, तो शुक्लजी की बात सच हो सकती है; किन्तु अपने देश मे अन्य कारणो—राजनैतिक, साम्प्रदायिक आदि—से भी पुस्तकों का लुप्त हो जाना सर्व-विदित है।

ऐसा अनेक बार हुआ कि अनुसन्धित्सुओ को वे पुस्तकें बहुत पहले प्राप्त हो गई जिनका साहित्यिक स्तर अत्यन्त निम्नकोटि का है और वे रचनायें जिनका साहित्य-सौष्ठव अपेक्षाकृत महत्तर है, बहुत बाद मे मिली या सम्भव है, अभी प्राप्त ही न हुई हों। इसलिये रचना की लोकप्रियता और जनरुचि का ज्ञान केवल इस आधार पर प्राप्त कर लेना कि पुस्तक लुप्त नही हुई, सर्वदा सम्भव नही। यह अवश्य है कि युग-विभाजन और सामान्य प्रवृत्तियो के निरूपण मे इस सिद्धान्त का उपयोग एक सीमा के अतर्गत किया जा सकता है।

आदिकाल—युग-विभाजन और वर्गीकरण की दृष्टि से सबसे प्रमुख समस्या 'आदिकाल' के सीमा निर्धारण और नामकरण की है। शुक्लजी ने उपलब्ध रचनाओ की प्रचुरता और साहित्य-सौष्ठव को लक्ष्य करके उसे 'वीरगाथा' काल कहा; और उसका सूत्रपात विक्रम सवत् १०५० से माना। किन्तु जैन और सिद्ध-साहित्य की उपेक्षा वे न कर सके। उन्होने इतिहास के संशोधित संस्करण के दूसरे प्रकरण मे 'अपभ्रंश काल' शीर्पक के अंतर्गत इस साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया है; लेकिन सिद्धो और योगियों के साहित्य मे जीवन की स्वाभाविक सारणियों और दशाओ का निरूपण न देखकर, शुक्लजी ने भाषा के विकास और जनता के संस्कारो की भूमिका को स्पष्ट करने के इरादे से ही अत्यन्त सीमित विवेचन किया। इसमे कोई सदेह नहीं कि साहित्य का अधिकाश भाग 'साम्प्रदायिक शिक्षा' या अन्तस्साधनाओ के जटिल विधि-विधानों से ही भरा पडा है. किन्तु कही-कही शुद्ध साहित्य की कोटि मे आने वाले ऐसे प्रकरण भी उपलब्ध होते हैं जिनकी उपेक्षा रसवादी दृष्टि नही कर सकती। 'स्वयंभू की रामायण' को महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिन्दी का सबसे प्राचीन और उच्चकोटि का काव्य-ग्रन्थ मानते हैं। शायद शुक्लजी के समक्ष यह ग्रन्थ नही था इसलिये उनके इतिहास में इसका उल्लेख नही हुआ। उस काल की अन्य धार्मिक रचनाओ के सम्बन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने कहा है :—

"परन्तु ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है उसमें कई रचनायें ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है।"

साहित्य के समान महत्त्व को लक्ष्य करके ही राहुलजी ने 'सिद्ध-सामतकाल' नाम सुझाया है। यह नाम कुछ अधिक उपयुक्त अवश्य है किन्तु 'सिद्ध' कहने मात्र से जैन-साहित्य का ठीक बोध नही हो पाता और 'सामंत' शब्द की व्याप्ति इतनी दूर तक है कि उसके भीतर पूरा भक्ति-काल और रीति-काल भी समा जाता है। 'सामंत' शब्द वस्तुतः एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का व्यजक होने के कारण इतनी दीर्घकाल की सूचना देता है जो भारतवर्ष के इतिहास मे सहस्रों वर्षों तक व्याप्त रहा, और हिन्दी-साहित्य का लगभग सभी प्राचीन भाग उसी युग मे लिखा गया। ऐसी स्थिति मे 'सामत' शब्द की अतिव्याप्ति सहज बोधगम्य है। यह अवश्य माना जायेगा कि 'सिद्ध' शब्द के जुट जाने से इसमे पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती काल-सीमा का निर्धारण भी किसी हद तक हो गया है किन्तु फिर भी भ्रम की गुंजाइश बहुत है।

इस प्रकार हम देखते है कि अनुसन्धान के फलस्वरूप आदिकाल से सम्बद्ध जो नूतन सामग्री प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध हुई है उसमें किसी एक निर्दिष्ट व्यापक साहित्यिक चेतना की स्थिति का पता अब तक नही लग सका जिसके आधार पर दोष-रहित नामकरण किया जा सके। उसे 'आदिकाल' कहना ही अभी अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

वीरगाथाकारो की परम्परा मे शुक्लजी ने श्रीधर तक का वर्णन किया जिनका रचनाकाल संवत् १४५४ दिया गया है। किन्तु भक्ति-काल सं० १३७५ से मानने पर श्रीधर निश्चित रूप से उसी के अंतर्गत आ जाते हैं। दूसरी ओर 'वीरगाथाकाल' के 'फुटकल' कवियों मे विद्यापति तक को रखा गया है जिनका रचनाकाल वि० सं० १४६० है। श्रीधर के साथ तो यह तर्क है कि वे 'वीरगाथा' की परम्परा में हैं और उसके

निकट रूप से सम्बद्ध भी है किन्तु, विद्यापति को उस युग में कैसे रखा गया, यह स्पष्ट नही होता। आचार्य शुक्ल ने इतना संकेत दिया है कि कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा में विद्यापति को नही ग्रहण करना चाहिये। उनकी दृष्टि में विद्यापति शृंगार-काव्य के प्रणेता थे। किन्तु दूसरी ओर देखा जाय तो वीरगाथा की परम्परा से तो वे और भी दूर पड़ते थे।

भक्तिकाल—'भक्तिकाल' नाम से प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं। साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो के देखते हुए यही नाम उचित भी है। किन्तु इस युग की सीमा कहाँ-से-कहाँ तक मानी जाय, इस सम्बन्ध मे मतैक्य नही। पूर्ववर्त्ती सीमा के ऊपर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। भक्ति-काल की उत्तरवर्त्ती सीमा 'रीतिकाल' को छूती है, अतः दोनो के बीच विभाजक रेखा खीचने के लिए 'भक्ति' और 'रीति' के मूल अर्थ के ऊपर ध्यान रखना ही अधिक समीचीन होगा। शुक्लजी के इतिहास में वर्णित 'राम-भक्ति-शाखा' और 'कृष्ण-भक्ति-शाखा' के अन्तिम कवियो (हृदय-राम एवं ध्रुवदास) का काव्य-काल विक्रम की सत्रहवी शताब्दी का अन्तिम काल है। इसका अर्थ यह है कि भक्तिकाल की दो प्रमुख धाराएँ वि० सं० १७०० तक प्रधान रूप से प्रवाहित होती रही। किन्तु जैसा शुक्लजी के उल्लेख से ही प्रकट है, "संवत् १५९८ में कृपाराम थोड़ा-बहुत रस-निरूपण भी कर चुके थे।" इसका अर्थ यह हुआ कि 'रीति-काल' के प्रारम्भ होने के लगभग १०० वर्ष पूर्व रीति-निरूपण शुरू हो गया था जिसको कुछ और आगे चलकर केशवदास ने अत्यन्त प्रौढ़ रूप प्रदान किया। किन्तु केशव की गणना भी शुक्लजी ने भक्तिकाल के फुट-कल कवियों के अन्तर्गत की और यह तर्क दिया कि—

"हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर।"

लेकिन यह तर्क बहुत प्रबल नही है। पहली बात तो यह है कि केवल ५० वर्षों का व्यवधान पड़ जाने से ही किसी साहित्य की परम्परा को खण्डित नही मान सकते। इस बीच में कुछ-न-कुछ वैसी रचनाएँ अवश्य लिखी गई होगी, यह बात दूसरी है कि उन्हे पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई हो अथवा नही। दूसरी बात यह है कि चिन्तामणि के बाद आने वाली रीति-ग्रन्थों की परम्परा मे केशवदास का साहित्यिक आदर्श न दिखाई पडने के कारण ही वह परम्परा 'कविप्रिया' आदि से तात्त्विक दृष्टि से भिन्न नही हो सकती। साहित्यिक आदर्श चाहे जो हो, अलंकार-अलंकार्य के सम्बन्ध मे चाहे जो धारणाएँ रखी जाएँ किन्तु 'रीतिकाल' के नाम के भीतर सबकी समाई है। लेकिन समस्या केवल इतने से ही हल नही होती। भक्तिकाल की पूर्वागत परम्परा और रीतिकाल की उभरती हुई काव्यधारा का किसी एक बिन्दु पर संयोग स्थापित करना क्षम्य नही। हम प्रधानता का विचार करके ही सुविधा के लिए एक सीमा मान सकते हैं। शुक्लजी द्वारा निर्धारित भक्तिकाल की उत्तरवर्ती सीमा शाहजहाँ के अवसान और औरंगजेब के राज्या रोहण काल को स्पर्श करती है। इस प्रकार यदि साहित्य को अन्य कलाओं के संदर्भ मे रखकर देखा जाय तो शाहजहाँ का काल भी रीतिकाल के अन्तर्गत आ सकता है। अन्य कलाये—विशेषकर स्थापत्य कला—शाहजहाँ के युग में अलकृति आदि की दृष्टि से भी अपने चरम वैभव पर पहुँची। लेकिन हिन्दी साहित्य के भीतर भक्ति की धारा शाहजहाँ के युग में भी वेगवती थी। इतना अवश्य है कि उसमें परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे। शाहजहाँ-युग की कलात्मक प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखते हुए हम रीति-काल का आरम्भ लगभग २५ वर्ष और पहले से मान सकते हैं; लेकिन केशवदास को इस काल की सीमा में भी नही समेटा जा सकता। क्योंकि उनका देहावसान सं० १६७४ मे हो गया था। शुक्लजी ने इन्ही कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए भक्तिकाल के फुटकल कवियों में केशवदास को रखा और चिन्तामणि त्रिपाठी के रचनाकाल (सं० १७००) से ही रीतिकाल का प्रारम्भ माना।

भक्तिकाल के अन्तर्गत रामभक्ति-धारा का विवेचन शुक्लजी ने पहले किया और कृष्ण-भक्ति का बाद में। 'सूर' और 'तुलसी' के जन्म-सवतो की ओर ध्यान दिलाते हुए ऊपर वाली बात को लक्ष्यकर पंडित गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने कहा है—

"जब तक इन ('सूर' और तुलसी) की जन्म-सम्वन्धी मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर पड़ने के कारण न उपस्थित हों तब तक इनके आधार पर कृष्ण-भक्ति-शाखा का उल्लेख राम-भक्ति-शाखा के पूर्व होना उचित होगा।"

लेकिन आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण यहाँ भी भिन्न है। यद्यपि कबीर का आविर्भाव पहले देखकर वे निर्गुण काव्य-धारा को कालक्रम के अनुसार उसके तुरन्त वाद में स्थान देते है तथापि यह बात सहज स्पष्ट हो जाती हैं कि इस स्थापन के पीछे जो दृष्टिकोण कार्य कर रहा है, वह कवियो के जन्म को प्रधानता न देकर आचार्यों या सप्रदाय-प्रवर्त्तको के जन्म को महत्त्व देता है। कबीर को निर्गुण काव्यधारा का प्रवर्त्तक मानने के साथ-साथ शुक्लजी एक 'पथ' का प्रवर्त्तक भी मानते हैं जिसके अन्तर्गत अनेक कवियो ने रचनाएँ लिखीं—

"उनका (कबीर का) 'निर्गुण-पंथ' चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।"

यदि 'कबीर-पंथ' का प्रवर्त्तक कोई और संत होता तो क्रम की स्थापना में उसी के जीवन-काल का विचार होता। उसी प्रकार, सूफी कवियों मे भी प्रेम-कथाओं की स्वतन्त्र उद्‌भावनाएँ मिलती हैं—वे काव्य-परम्परा प्रेरित हैं, आचार्य-प्रेरित नही। इसके विपरीत 'सूर' और तुलसी द्वारा भगवान् के गृहीत रूप अन्य आचार्यों द्वारा निर्धारित थे। तुलसी ने अपने आपको 'साम्प्रदायिक' सीमाओ से अलग रखा अवश्य, किन्तु राम के जिस रूप की प्रतिष्ठा वे चाहते थे वह बहुत-कुछ रामानन्द द्वारा निरूपित हो चुका था। रामानन्द ने हिन्दी मे कुछ कविताएँ भी

लिखीं। कदाचित् यही सोचकर राम-भक्ति-धारा का सम्बन्ध शुक्लजी ने उनसे ही जोड़ा है। दूसरी ओर हिन्दी की कृष्ण-भक्ति-शाखा वल्लभाचार्य द्वारा निरूपित भगवत्स्वरूप एवं उन्ही द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की सीमाओं को स्वीकार करके चली। इसीलिए सूरदास के काव्य के अन्तर्गत उसका उद्‌गम न मानकर उन्होने वल्लभाचार्य मे ही माना, और क्रम-व्यवस्था मे वल्लभाचार्य के जीवन-काल का ध्यान रखा। रामानन्द का समय शुक्लजी के विचारानुसार पन्द्रहवी शती का अन्तिम चरण और सोलहवी शती का पूर्वार्द्ध है और वल्लभाचार्य का सोलहवी शती का मध्यकाल या उत्तरार्द्ध। ऐसी स्थिति मे हिन्दी-कविता के भीतर भी राम-भक्ति का आविर्भाव पहले से ही हो जाता है। हमारी समझ मे शुक्लजी का दृष्टिकोण यही था, और यह युक्तिसंगत भी जान पड़ता है।

रीतिकाल—'रीतिकाल' नाम के सम्बन्व मे मतभेद अवश्य है किन्तु हिन्दी के अधिकांश पाठको और विद्वानों ने उसे स्वीकार-सा कर लिया है। इस काल के नामकरण के सम्बन्व में शुक्लजी का एक सुझाव और है। उनका कहना है—

"वास्तव में शृङ्गार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल मेंहुई। प्रधानता शृङ्गार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृङ्गर-काल कहे तो कह सकता है।"

पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अनेक संगततर्कों की योजना करके सिद्ध किया है कि 'शृङ्गार-काल' नाम ही अधिक उपयुक्त है। उनका प्रधान तर्क यह है कि शृङ्गार-काल कहने से एक ओर तो लगभग वे सभी कवि इसके अन्तर्गत आ जाएँगे जिनका विवरण शुक्लजी ने फुटकल कवियो के भीतर दिया है और दूसरी ओर भूषण इत्यादि कवि भी इसी मे समाविष्ट हो सकते है, क्योंकि उनकी 'शृङ्गार-मूलक' रचनाएँ काफ़ी मात्रा में मिलती हैं और आगे भी मिल सकती हैं।

'शृङ्गार' कहने से काव्य के आन्तरिक पक्ष को बल मिलता है और 'रीतिकाल' कहने से उसके बाह्य-विधान को। बाह्य-विधान पर तत्कालीन कवियों का विशेष आग्रह देखकर ही शुक्लजी ने 'रीतिकाल' नाम ठीक समझा था। वस्तुतः इस -काल के लिए सर्वमान्य नाम अभी तक निर्धारित नही किया जा सका। प्रत्येक सुझाव मे कुछ-न-कुछ त्रुटि है।

रीतिकालीन काव्यधारा के अवान्तर वर्गीकरण का कोई संगत आधार शुक्लजी को नही मिला। उन्होने केवल 'रीति-ग्रन्थकार' और फुटकल कवियो की दो कोटियाँ बनाई है। जिन कवियो ने लक्षण-ग्रन्थों की रचना की उनको उन्होने पहली मे, और जिन्होने ऐसे ग्रन्थो की रचना नही की उन्हे दूसरी कोटि मे रखा। किन्तु उनके अवांतर वर्गीकरण की संभावना वे अवश्य समझते थे इसीलिये आरम्भ में ही कह दिया था—

"रीतिग्रन्थों की बहुत गहरी छान-बीन और सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नही मिला है।"

आधुनिककाल को उन्होने 'गद्य-काल' कहा है लेकिन इस नाम पर उनका विशेष आग्रह नही। कदाचित् इसीलिए आगे चलकर उन्होने केवल 'आधुनिककाल' नाम ही रखा है अन्य कालो की भाँति कोष्ठक मे गद्य-काल नही लिखा। 'गद्य-काल' नाम का संकेत उन्होने केवल इसीलिए दिया कि "आधुनिककाल मे गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है।"

शुक्लजी के इतिहास की सीमायें : समाधान—

शुक्लजी के इतिहास के काल-विभाजन और वर्गीकरण के सम्बन्ध मे ऊपर जो-कुछ कहा गया है उससे साफ प्रकट है कि उन्होने अपने निर्धारित तीन सूत्रो का ध्यान सदैव रखा और इस प्रकार साहित्य के इतिहास के निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति से अपने आपको विच्छिन्न नही होने दिया। लेकिन फिर भी उनके इतिहास की अनेक

सीमाएँ है जिनकी ओर विभिन्न विद्वानों ने पाठको का ध्यान समय-समय पर आकर्षित किया है।

नई सामग्री—शुक्लजी के उपरान्त इधर जो अनुसन्धान इस दिशा मे हुआ है उससे इतिहास की प्रभूत सामग्री संचित हो गई है। नूतन ग्रन्थों और लेखकों का नही नूतन साहित्यिक प्रवृत्तियो का भी संधान पाया गया है। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में ऐसी सामग्री प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध हुई और जीवन की नई दृष्टि के साथ उसे समन्वित करके इतिहास का रूप देने का कार्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है। जहाँ तक नई सामग्री के उपलब्ध होने का प्रश्न है वहाँ तक तो किसी भी इतिहास मे त्रुटियाँ उत्पन्न होती ही रहेगी। ज्योंही किसी नए कवि या ग्रन्थ का पता लगेगा त्योंही उसके सम्बन्ध मे नये तथ्य और निष्कर्ष प्राप्त कर लिये जा सकते है; किन्तु इन सब बातों से शुक्लजी के कार्य का गुरुत्व कम नही होता। ये उनकी व्यक्तिगत सीमाओ की सूचना उतनी नही देती जितनी उनके युग की सीमाओं की।

एकसूत्रता का अभाव—जहाँ तक साहित्य की व्यापक एकसूत्रता के उद्घाटन का प्रश्न है, द्विवेदीजी ने शुक्लजी से कही अधिक गहरी दृष्टि का परिचय दिया है। उनकी लिखी हुई 'भूमिका' नये अर्थ में इतिहास की भूमिका बन गई है।

आचार्य शुक्ल के इतिहास मे एकसूत्रता की स्थापना न होने का कारण यह नही था कि उसकी उन्हे चेतना नही थी। वे इस बात से अवश्य परिचित थे कि साहित्यिक प्रवृत्तिया अनेक युगो तक चलती रहती हैं—इसका स्पष्ट उल्लेख भी उन्होने इतिहास मे किया है। लेकिन कवियो के इतिवृत्त-संग्रह और नमूने एकत्र करने की पुरानी परम्परा का निर्वाह करने के कारण वे उसका पूर्ण उद्घाटन करने मे असफल रहे। एक युग का 'सामान्य परिचय' देने के उपरान्त, जब उस युग के कवियों का विस्तृत परिचय देने के लिए वे आगे बढ़े तो ऐसा लगा जैसे

साहित्य-धारा का अविच्छिन्न प्रवाह खण्डित हो गया हो। परिणाम-स्वरूप इतिहास के विभिन्न युग अलग-अलग पड़ गये और उनमे जनक-जन्य सम्बन्ध स्थापित न हो सका।

मध्यवर्गीय चेतना और रस-दृष्टि—इस इतिहास का कच्चा ढांचा, छात्रों के उपयोग के लिए शुक्लजी ने सन् '२२ या '२३ के लगभग ही बना लिया था और उसमें "परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं" का निरूपण किया गया था। उक्त उद्धरण मे 'शिक्षित जनसमूह" शब्द ध्यान देने योग्य है। क्या इतिहास के निर्माण मे अशिक्षित जनसमूह का हाथ नही होता ? यदि उसका हाथ होता है तो क्या साहित्य के इतिहास को वह परोक्षतः ही प्रभावित नही करता ? शुक्लजी की शायद यही धारणा थी की साहित्य के रचयिता और शिक्षित पाठक मिलकर ही उसके इतिहास का निर्माण करते है, अत· इतिहास-लेखन मे उन्ही की 'चित्त-वृत्ति' का निरूपण होना चाहिए। इतिहास के बीच मे भी जहाँ कही निर्गुणिये सन्तों का प्रसंग आता है वहाँ वे संकेत देना नही भूलते कि 'अशिक्षित' जनता के ऊपर उनका बहुत अधिक प्रभाव था। इस प्रकार एक ओर तो वे सन्तों के उस प्रभाव की महत्ता को अस्वीकृत कर देते हैं जो आम जनता के ऊपर था और दूसरी ओर साहित्य-निर्माण मे प्रेरणा देने-वाली 'अशिक्षित' जनता के महत्त्व को। किन्तु इसका कारण उनकी 'प्यूरिटन दृष्टि' मे उतना नही मिल सकता जितना उनके 'रसवाद' मे। साहित्यिक मान्यताओ वाले प्रकरण में हम यह दिखा आये हैं कि उन्होने अपने आचार-शास्त्र को 'रसवाद' के भीतर घुला-मिला दिया था।

"फुटकल खाता"—कुछ कवियो का वर्णन उन्होने फुटकल खाते मे किया है। भक्तिकाल के फुटकल खाते मे जिन कवियो का वर्णन हुआ

है उनकी सामाजिक भूमिका शुक्लजी ने उसकी अच्छी तरह पहचानी थी। उन्होंने प्रारम्भ मे ही लिख दिया था कि भक्तिकाल के भीतर,-कविता की पुरानी परम्परा, जो पठानों के आक्रमण के समय दब-सी गई थी फिर उमड़ आई और अकबर की शान्ति-पूर्ण राज्य-व्यवस्था के भीतर उसे फूलने-फलने का पूरा अवसर मिला। "जो भारतीय कलावन्त छोटे-मोटे राजाओं के यहाँ किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हुए संगीत को सहारा दिए हुए थे वे अब शाही दरबार में पहुँचकर 'वाह-वाह', का ध्वनि के बीच अपना करतब दिखाने लगे।" केशवदास को उन्होंने ऐसे ही "कलावन्तो" के बीच स्थान दिया। उसके अतिरिक्त इस फुटकल सूची मे और जो २० कवि रखे गये हैं उनमें से कम-से-कम १० प्रसिद्ध कवियो का सम्बन्ध तो किसी-न-किसी दरबार से अवश्य था, गंग, रहीम, बीरबल, टोडरमल, नरहरि वन्दीजन आदि तो अकबरी दरबार के ही लोग थे। इन कवियों की मूल आन्तरिक प्रेरणा निश्चय ही 'सूर', 'तुलसी' आदि से भिन्न थी और भिन्नता का मुख्य आधार (जैसा शुक्लजी ने बताया) यही था कि एक का सम्बन्ध दरबारदारी से था और दूसरे का सामान्य लोक-जीवन से। भक्त कवियों का सम्पर्क सामान्य जनता से ही हुआ था राजाओ से नही। 'वीरगाथा-काल' के फुटकल कवियो—खुसरो एव विद्यापति—के काव्य को देखने से ही स्पष्ट है कि वे वीरगाथाओं के रचयिता नहीं हैं। इसलिए इन्हे अलग रखना ही उचित था। जैसे चारण कवियो का सम्बन्ध दरबार से रहा करता था, उसी प्रकार विद्यापति का भी। खुसरो भी सम्भवतः इस सम्पर्क से बचे नही थे। इसलिए उस आधार पर इनके काव्य का वर्गीकरण नही हो सकता था। इन दोनो कवियो ने पहले से चली आती हुई परम्पराओं का विकास किया, इसलिए इनका अलग रखा जाना उचित ही था।

ऊपर कही गई बातो का निष्कर्ष यह निकला कि शुक्लजी ने अपने इतिहास मे 'फुटकल खाता' इसलिए नही खोला कि वे समाज के

अन्तर्विरोधों को समझ नही सके, बल्कि इसलिए कि युगो के जो नाम उन्होने रखे उनके भीतर कुछ कवि या कुछ कवितायें समा नही पाती थी। कोई ऐसा सामान्य नाम वे नही ढूंढ़ सके जो सम्पूर्ण इतिहास को अपने भीतर समेट ले। आज भी ऐसा नाम ढूंढ़ लिया गया है, इस बात मे सन्देह है।

घटनाओं की कार्य-कारण शृंखला—शुक्लजी ने साहित्य-प्रवृत्तियों और तत्कालीन परिस्थितियों मे जो कार्य-कारण शृंखला स्थापित की उसमे कही-कहीं त्रुटियाँ पाई गई हैं। सबसे बडी त्रुटि यह बताई जाती है। कि उन्होने भक्ति-भावना को नैराश्य-भावना से उत्पन्न बताया। लेकिन शुक्लजी ने अपने युग की सामान्य ऐतिहासिक धारणा को ही व्यक्त किया था। वे कोई ऐसी बात नही कह रहे थे जो इतिहास के लिए नितांत विलक्षण हो। वस्तुतः इस्लाम के आगमन से भारत की सम्पूर्ण राजनीतिक-सांस्कृतिक चेतना एक विशेष दिशा मे प्रभावित हो उठी थी। यह घटना एकदम अप्रत्याशित थी। इसका प्रभाव भी बडा था। इसलिए इसे कुछ अधिक श्रेय दिया गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'भूमिका' में इस्लाम के इतने अधिक महत्त्व का खण्डन किया और कहा कि यदि भारत में उसका आगमन न होता तो भी यहाँ का इतिहास लगभग बारह आने वैसा ही रहता जैसा आज है। इस प्रकार भक्ति-भावना के अचानक उमड़ पड़ने के पीछे उन्होने इस्लाम का केवल चार आना प्रभाव माना। प्रश्न यह है कि यह प्रभाव क्या नैराश्य-मूलक था ? क्या भौतिक क्षेत्र में पराजित होने के कारण पूरा समुदाय आध्यात्मिकता की ओर दौड पड़ा था ? इसमें कोई संदेह नही कि इस्लाम की प्रभुता ने हिन्दू जनता मे निराशा की भावना उत्पन्न की किन्तु भक्ति-भावना उस निराशा से उत्पन्न नही हुई। उससे तो समाज के भीतर नयी आशा का संचार हुआ और निराशा दूर भगाई गई। प्राचीन भक्ति-साहित्य की क्रम-बद्ध परम्परा के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कडी के रूप मे मध्यकालीन भक्ति-साहित्य का निरूपण करके द्विवेदीजी ने सिद्ध

कर दिया है कि इस्लाम के आगमन से उत्पन्न निराशा इसमें कारण-स्वरूप नहीं थी। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन को द्विवेदीजी की यह महत्त्वपूर्ण देन है।

इतिहास की प्राणचेतना—अन्तिम प्रश्न है इतिहास को 'लिखने' अथवा 'जगाने' का। जैनेन्द्रजी ने यह शिकायत की है कि शुक्लजी ने इतिहास को जगाया नहीं, इसलिए उसमे भविष्य के लिए कोई प्रेरणा नही है। शुक्लजी ने पहले-पहल इतिहास के ढांचे का निर्माण किया और उसे, व्यापक एकसूत्रता की प्रतिष्ठा करके, पुष्ट और सुडौल बनाया। उसमें प्राणों का स्पदन भी उत्पन्न किया जिससे वह सजीव हो उठा। आज 'हिन्दी-साहित्य' शब्द को कहते अथवा सुनते समय जो बिम्ब कल्पना मे उतर आता है उसकी अधिकांश रूप-रेखा आचार्य शुक्ल द्वारा ही निर्मित है। साहित्य-धारा का जीवंत प्रवाह भी पहले-पहल उन्ही के द्वारा लक्षित हुआ। ऐसी स्थिति में यह मानना बडा कठिन है कि वे इतिहास को 'जगा' न सके। यदि जैनेन्द्रजी का संकेत 'नये साहित्य' को प्रोत्साहन देने की ओर हो तो यह त्रुटि शुक्लजी में अवश्य मानी जा सकती है।

निष्कर्ष—शुक्लजी के इतिहास में त्रुटियां अनेक प्रकार की हैं और आगे भी प्रकट होगी; काल-विकास के साथ-साथ उसकी असंगतियाँ भी उभरती चली जायेंगी, किन्तु यह मानने में हिचक नही होनी चाहिए कि उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्त्व भी साथ-ही-साथ प्रकट होता चला जायेगा। उनके इतिहास को जब भी हम तत्कालीन परिस्थितियों के बीच रखकर देखने का प्रयास करेंगे तभी यह देखकर आश्चर्य होगा कि इस ढाँचे का निर्माण करने के लिए उन्होंने कितनी साधना की होगी। पूर्ववर्त्ती इतिहासकारो का ऋण उनके ऊपर बहुत है किन्तु उन्होने वास्तविक इतिहास-लेखन की दिशा का संधान करके जैसे अपने आपको उनसे बहुत आगे कर लिया।

अध्याय :: ५

कृतित्व की अन्य दिशाएँ

काव्य-रचना—

कहा जाता है कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ नाटक-रचना से किया था और दो छोटे-छोटे नाटक लिखे भी थे (इनमे एक अधूरा रह गया था। दोनो कृतियाँ नष्ट हो गईं।) परन्तु उनकी सबसे पहली प्रकाशित रचना एक कविता ही है जो सन् १९०१ की 'सरस्वती' मे 'मनोहर छटा' शीर्षक से निकली। कविता की रचना के समय उनकी आयु लगभग १६ वर्ष थी। आचार्य के साहित्यिक जीवन का सूत्रपात् कविता से हुआ, यह बात केवल आकस्मिक नही है। उनकी सम्पूर्ण व्यावहारिक आलोचना मे प्राय सर्वत्र ही कवि-सुलभ भावमग्नता और तरलता का रहना यह सिद्ध करता है कि विवेचन-विश्लेषण की निविड़ता मे भी उनका कवि रूप प्रच्छन्न न रह सका। हम यह देख चुके है कि भावो को वे मानव-जीवन मे अत्यधिक महत्त्व देते थे और उनके अन्दर भाव-सौंदर्य को ग्रहण करने की क्षमता भी अद्भुत थी। इन दोनो बातों को देखते हुए ऐसा लगता है कि उन्होने अपने कवि-रूप को बलपूर्वक नियन्त्रित करके आलोचक-रूप का सहकारी बनाया। हिन्दी-साहित्य के लिए यह बात कल्याण-प्रद ही हुई।

कवि के रूप मे शुक्लजी की प्रतिष्ठा बहुत कम है। उन्होने केवल थोड़ी-सी कविताएँ 'व्रजभाषा' और खड़ी-बोली मे लिखी थी, जो तत्कालीन पत्रिकाओ की फाइलो मे बंद है—अनेक कारणों से वे अब तक प्रकाशित न की जा सकी। इन फुटकल कविताओं के अतिरिक्त उन्होने Light of Asia के आधार पर बुद्ध-चरित नाम का एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य भी व्रजभाषा मे लिखा; किन्तु प्राय: अनुवाद होने के कारण

उसकी प्रतिष्ठा मौलिक ग्रन्थ के रूप मे कम है। उसमे कही-कही अपनी कल्पना द्वारा नए चित्रों की उद्भावना की गई है, जिससे काव्य की सरता को कुछ अधिक वल मिला है।

उपर्युक्त काव्य-साहित्य को लक्ष्य कर शुक्लजी की कुछ प्रवृत्तियो का निर्धारण हो सकता है।

ध्यान आकर्षित करने वाली पहली वात है प्रकृति का यथातथ्य-चित्रण। जिस प्रकार अपनी आलोचनाओं मे वे बार-बार प्रकृति के आलम्बन रूप के चित्रण पर बल देते रहे उसी प्रकार अपनी कविताओं मे भी उसे निभाने का प्रयास करते रहे। अत्यन्त प्रारम्भिक रचना मे इस प्रवृत्ति का प्रमाण है—

"तरु मडप के रंध्रन बिच सों छनि-छनि आवत।
शशिकिरनन को पुंज सरस सोभा सरसावत॥
करत अलौकिक नृत्य आय निर्मल जल माही।
निरखि ताहि मन मुग्ध होय थिर रहत तहाँ ही॥"

आगे चलकर जब उनकी प्रतिभा मे कुछ अधिक प्रौढता आई तब प्रकृति-चित्र अधिक संश्लिष्ट एव प्रभावशाली वनने लगे। उनमे वातावरण को मूर्तिमान करने की अधिक शक्ति आ गई। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

"भूरी हरी घास आस-पास फूली सरसों है
पीली-पीली विन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।
गाढी हरी श्यामता की तुंग राशि रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से
धुँधली-सी नीली नभ-माला उठी धुँआधार।"

'बुद्ध-चरित' में अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वे अनुवाद-कार्य से विरत हो गए है और Light of Asia का जो प्रकृति-चित्र उन्हे अधूरा लगा उसे पूरा करने के लिए नए वर्णन प्रस्तुत करने मे दत्तचित्त हो गए हैं। इसमे सन्देह ही क्या है कि भारत-भूमि को जितना निकट से उन्होने देखा था उतना आर्नल्ड ने नही। इसलिए उनकी जोड़ी हुई पंक्तियो ने चित्रो को अधिक पूर्ण और प्रभावशाली बना दिया है। आर्नल्ड ने लिखा था—

> **Softly the Indian night sinks on the plains.**
> **At full moon, in the month of Chaitra Shud.**
> **When mangoes redden and the asoka buds.**
> **Sweeten the breeze, and Rama's birthday comes.**
> **And all the fields are glad and all the towns.**

शुक्लजी का अनुवाद निम्नांकित है—

> "निखरी रैंन चैंत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
> चारु हासिनी खिली चाँदनी पटपर पैं अति प्यारी॥
> अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई।
> सींकन में गुछि झूल रही जो मन्द झकोरन पाई॥
> चुवत मधूक परसि भू जौं लौं 'टप-टप' शब्द सुनावैं।
> ताके प्रथम पलक भारत भर में निज झलक दिखावैं॥
> महकति कतहुँ अशोक-मंजरी, कतहुँ कतहुँ पुर माँहीं।
> राम-जन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं॥"

चैत्र पूर्णिमा के उक्त चित्र को पूर्ण करने के लिए शुक्लजी ने दो बातें जोड़ी हैं। पहली तो यह कि अमराइयो मे प्रवेश करके चाँदनी 'अमियो' को झलका देती है और दूसरी यह कि महुए के फूल 'टप-टप' करके चू रहे है और जमीन पर गिरने के पहले ही एक क्षण को झलक जाते हैं। पहली का परिणाम यह हुआ कि अमराइयों का चाँदनी के साथ सश्लिष्ट सम्बन्ध जुट गया है और दूसरी बात के जोड देने से चैत्र ऋतु का चित्र पूरा हो गया। महुए का वर्णन उस प्रसंग में आवश्यक

था। ध्यान देने की बात है कि शुक्लजी का यह 'महुआ-प्रेम' वहाँ भी प्रकट हो चुका है जहाँ साँची का स्तूप देखते समय वे अपने लखनवी मित्र के इस कथन पर व्यग्य करते है कि, "यहाँ महुए-सहुए का नाम मत लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।"

उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण—शुक्लजी की कुछ कविताओ में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप मे भी हुआ है और ठीक वैसे ही हुआ है जैसे रीतिकालीन कविताओ मे। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ रीतिकालीन कवि किसी विरहिणी नायिका से कोकिल, पलाश आदि का तिरस्कार करवाता है, वहाँ शुक्लजी देश दशा से दुःखित होकर इनका तिरस्कार करते है। तिरस्कार का भाव दोनो मे है और उसकी तीव्रता भी दोनो मे समान है। किसी में भी प्रकृति-चित्र का विधान नही। शुक्लजी तो विधाता से यहाँ तक निवेदन करते है कि तुम इस धरती पर से वसन्त का नाम ही मिटा दो—

"विगत दिवस प्रतिविम्ब हाय सम्मुख तुम लावत;
भारत सन्तति केर विरह चौगुनो बढ़ावत।
अहो विधाता वाम दया इतनी चित लावहु;
देश काल तें ऋतु वसत को नाम मिटावहु॥"

वसत के उपकरणो को सम्वोधित करके वे कहते है—

"कुसुमित लतिका ललित तरुन बसि क्यों छवि छावत?
हे रसालगन! बौरि व्यर्थ क्यों सोग बढ़ावत?
हे कोकिल! तजि भूमि नाहिं क्यो अनत सिधारी?
कोमल कूक सुनाव बैठि अजहूँ तरु डारी॥"

यह ठीक है कि देश-प्रेम से आप्लावित होने के कारण इस कविता का स्थान विरहिणो का प्रेम व्यक्त करने वाली कविता से ऊँचा है; किन्तु प्रकृति-वर्णन के प्रसंग मे इन भावों का आरोपण स्वयं शुक्लजी ही ठीक नही समझते। इसका विरोध वे कई स्थानो कर चुके थे।

आचार्य शुक्ल जिस प्रकार अपनी आलोचनाओ मे प्रबन्ध-काव्य के प्रति कुछ उदार और मुक्तकों के प्रति अनुदार दिखाई पड़ते है उसी प्रकार अपनी कविताओ मे भी। यद्यपि उन्होने छोटी-छोटी कवितायें कई लिखी है तथापि विशुद्ध मुक्तको की कोटि मे आने वाली उनकी कवितायें कम ही है; अधिकाश में प्रबन्धात्मकता की योजना कर दी गई है। प्रबन्ध या आख्यान को लेकर लिखना उन्हे अधिक प्रिय लगता था। 'शिशिर-पथिक', 'हृदय का मधुर भार' आदि ऐसी ही कविताये हैं जिनमे नाम मात्र को ही सही, किन्तु प्रबन्धात्मकता का आश्रय अवश्य ले लिया गया है।

शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध को बनाये रखना ही शुक्लजी ने कविता का प्रधान धर्म माना था, अत उनकी रचनाओं मे अधिकांश ऐसी है जो मनुष्य को प्राकृतिक वातावरण मे रखकर देखने का आग्रह करती है। अनेक कविताओ में इस बात पर क्षोभ प्रकट किया गया है कि मनुष्य प्रकृति के सुन्दर उपादानो को नष्ट करके और अपने जीवन को उनसे दूर हटाकर विनाश के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। ऐसे कर्मों की निन्दा करते हुए वे 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता मे कहते है—

"कर से कराल निज काननों को काट कर,
शैलों को सपाटकर सृष्टि को संहार ले।
नाना रूप रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे,
जीव जहाँ तक बने मारते तू मार ले।
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपना पसार ले।
विश्व-बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम् न, मानव विचार ले।"

बुद्धि-चरित—शुक्लजी के काव्य-साहित्य में बुद्ध-चरित का स्थान

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनूदित होते हुए भी यह प्रबन्ध-काव्य लेखक की मौलिकता की छाप लिए हुए है। आर्नाल्ड की मूल रचना से इस काव्य की तुलना करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यदि शुक्लजी केवल अनुवाद करते तो अंग्रेजी भाषा के संपूर्ण भावों और विचारो को बडी सफलता के साथ हिन्दी मे उतार लाते। ऐसा उन्होंने अनेक स्थानो पर किया भी है किन्तु अधिकतर ऐसा हुआ है कि प्रसंग को चमत्कार पूर्ण और रससिक्त करने के लिए अपनी स्वतंत्र उद्भावना-शक्ति से भी काम लिया गया है। भारतीय इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पक्षो पर दृष्टि रखकर शुक्लजी ने नई घटनाओ का समावेश भी किया है और पुरानी घटनाओ मे रूप-परिवर्तन भी। उदाहरण के लिए यदि आर्नाल्ड महोदय ने राजमहल के भीतर ही गौतम बुद्ध का जन्म किसी शालवृक्ष के नीचे दिखाया है तो शुक्लजी ने बौद्ध जातकों के साक्ष्य पर उसे लुम्बिनी मे दिखाया। ऋतुओ का ध्यान न रखने के कारण वसंत मे हल जोतने वालो के कोलाहल का वर्णन आर्नाल्ड ने किया; किन्तु शुक्लजी ने काल का अनुसरण करके वहाँ लिख दिया कि—"लिए खरिहानन में सुथरे पथपार पयार के ढूह लखात।", जो पूर्णतया स्वाभाविक है।

इस प्रकार के अनेको परिवर्तनो के कारण बुद्ध-चरित मे मौलिक प्रबन्ध-काव्य का-सा रस प्राप्त होता है।

काव्य-भाषा—शुक्लजी ने ब्रज-भाषा और खड़ी-बोली दोनो में कविताये लिखी हैं। शुद्धि, स्वच्छता और प्रवाह की दृष्टि से उनकी काव्य-भाषा दोषहीन जान पडती है। ब्रज-भाषा के ऊपर उनका अच्छा अधिकार था—उसका सबसे परिष्कृत रूप 'बुद्ध-चरित' में है। खडी-बोली की अत्यन्त स्वच्छ और प्रवाहपूर्ण योजना 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता मे दिखाई पडती है। 'बुद्ध-चरित', मे 'खड़ी-बोली', 'ब्रजभाषा' और 'अवधी' की जो इतिहास-व्याकरण-सम्मत मीमांसा की गई है उसी का निर्वाह शुक्लजी की रचनाओ मे दिखाई पडता है।

छन्द—छन्दो का प्रयोग विविधता को ध्यान मे रखते हुए किया गया। खड़ी-बोली में मुख्यतया 'कवित्तो' का और व्रजभापा में 'रोला', 'हरिगीतिका' आदि का प्रयोग उन्होंने अधिक किया। खडी-बोली के नये छन्दों का प्रयोग उनमे नही मिलता।

कविता में उनका 'लोकवाद' राजनैतिक या सामाजिक उत्थान की चर्चा के रूप में व्यक्त नही हुआ। यह बड़े आश्चर्य की वात है कि अन्य कवियों से 'लोक' और समाज पर दृष्टि रखने का इतना अधिक आग्रह करते हुए भी उन्होने स्वयं इस ओर क्यो नही ध्यान दिया। वे केवल प्रकृति-चित्रण को ही लेकर सामने आये। द्विवेदी-युग की सामाजिक चेतना उनकी कविताओ मे प्राय. नही मिलती। केवल बुद्ध-चरित की भूमिका मे नवजागरण-कालीन राष्ट्रीय उन्मेप का संकेत है—अपने प्राचीन गौरव को स्मरण रखने का आग्रह करते हुए उसमे कहा गया कि—

"कुमार सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण की सुध दिलाने वाली वाणी कहो नहीं सुनाई पड़ती है। जिन बातों से हमारा गौरव था उन्हें भूलते-भूलते आज हमारी यह दशा हुई।"

किन्तु लोक-जीवन को शुक्लजी ने अपने काव्य-जीवन का उपजीव्य क्यों नही बनाया यह प्रश्न बना ही रहता है।

कहानी-लेखन—

शुक्लजी की लिखी हुई "ग्यारह वर्ष का समय" नामक कहानी सन् १६०३ की 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई। स्वयं उन्होंने ही अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास मे हिन्दी की प्रारम्भिक मौलिक कहानियो में इसकी गणना की है। प्रारम्भिक कहानियों की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा है—

"इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं—'इन्दुमती,' 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'। यदि 'इन्दुमती' किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाई वाली' का नम्बर आता है।"

'इन्दुमती' की पूर्ण मौलिकता के सम्बन्ध मे किंचित् सदेह व्यक्त करके शुक्लजी ने अपनी कहानी को असदिग्ध रूप से प्रथम मौलिक कहानी मानने का सकेत दे दिया है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने भी अपने गवेषणात्मक प्रबन्ध—"हिन्दी कहानियो की शिल्प-विधि का विकास—" मे विचार-विमर्श के उपरान्त यही स्थिर किया है कि हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी यही है। यदि यह बात सही है तो यह मानने मे संकोच नही होना चाहिए कि कहानी के क्षेत्र मे शुक्लजी ने आगे चलकर कुछ कार्य भले ही न किया हो, किन्तु हमारे अगुत्रा वही है। यह एक विलक्षण बात है कि केवल एक ही कहानी लिखने के बाद उन्होने इस मार्ग पर फिर कदम नही रखा; किन्तु इस एक कहानी का ही ऐतिहासिक महत्त्व है, यह बात भूली नही जा सकती।

इस कहानी की रचना के समय शुक्लजी की आयु लगभग १८-१६ वर्ष की थी; अतः इसमे किशोरावस्था मे रहने वाली अनुभूतियों और

कल्पनाओं का सम्मिश्रण होना अनिवार्य था; किन्तु संस्कारों के संयम ने कथा और विचार के प्रवाह को मर्यादित रखा है।

कहानी उत्तम पुरुष में लिखी गई है जिसका मूलकथानक लेखक के शब्दों के आश्रय से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

"दिन भर बैठे-बैठे मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हुई; मै अपने स्थान से उठा और अपने एक नये एकान्तवासी मित्र के यहाँ मैंने जाना विचारा। जाकर मैंने देखा तो वे ध्यान-मग्न सिर नीचा किये कुछ सोच रहे थे।··· उदास तो वे हर समय रहते हैं। कई वेर उनसे मैंने इस उदासीनता का कारण पूछा भी किन्तु मैंने देखा कि उसके प्रकट करने में उन्हे एक प्रकार का दुःख सा होता है, इसी कारण मै विशेष पूछ-पाछ नही करता।"

[लेखक ने मित्र से घूमने का प्रस्ताव किया और वे चल पड़े]

"जान्हवी के तट से कुछ अंतर पर नीचे मैदान में बहुत दूर, गिरे हुए मकान के ढेर स्वच्छ चन्द्रिका में दिखाई दिये !···मैंने सक्षेप से उस खँडहर के विषय में जो कुछ सुना था उनसे कह सुनाया।"

[उस खँडहर में घूम-घामकर ध्यान-मग्न एक शिला पर बैठे थे]

"हम लोग अधिक विलम्ब तक इस अवस्था में न रहने पाये !··· कुछ दूर पर एक श्वेत वस्तु इसी खँडहर की ओर आती देख पड़ी।"

[मालूम हुआ वह एक स्त्री थी जो खँडहर मे विलीन होती होती अन्त में आँगन मे आ पहुँची। और तव ··]

मित्र ने पूछा—"देवि ढिठाई क्षमा करो। मेरे भ्रमों का निवारण करो।" वह स्त्री क्षण भर तक चुप रही, फिर स्निग्ध और गंभीर स्वर से बोली, "तुम कौन हो और क्यों मुझे व्यर्थ कष्ट देते हो ?"

[मित्र के आग्रह पर वह अपनी बीती कहानी सुनाने लगी। उसकी कथा से ज्ञात हुआ कि वह चन्द्रशेखर मिश्र के पुत्र को व्याही थी किन्तु वाढ़ में उसके पति कही लापता हो गए और सारा गांव ध्वस्त हो गया।

विवश होकर वह अपने चचा के घर रहने लगी पर वहाँ उसे बहुत दु:ख भोगना पडा। अत मे उसे उस खँडहर ही मे आकर सान्त्वना मिली क्योकि वही उसके पति का मूल निवास स्थान था। कहानी सुनकर मित्र ने कहा]

"देवि ! तुमने बहुत कुछ रहस्य प्रकट किया ; जो-कुछ शेष है उसका वर्णन कर अब मै इस कथा की पूर्ति करता हूँ।"

[चन्द्रशेखर के पुत्र की कहानी उस मित्र ने पूरी की और अत मे कहा]

"कदाचित्, तुम पूछोगी कि इस समय अब वह कहाँ है ? यह वही अभागा मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है।"

[अपने पति के हाथ पर काला तिल देखकर उसने उसे पहचाना। रात को लोग वही रहे, सुबह नगर की ओर लौटे]

उक्त कथानक को देखने से विदित होगा कि लेखक ने यथावसर चमत्कारी कौतूहल उत्पन्न करने का प्रयास किया है। प्रारम्भ मे जब मित्र की रहस्यमयी 'उदासीनता' का उल्लेख होता है तब पाठक की जिज्ञासा जाग उठती है, फिर खँडहर मे पहुँचने के बाद, निर्जन एकात स्थान में, किसी श्वेत-वस्त्रा रमणी मूर्ति का साक्षात्कार केवल लेखक को ही नही, पाठको को भी विस्मित करके, कौतूहल की सृष्टि करता है। जब उस स्त्री की कहानी प्रारम्भ होती है तब कौतूहल लगातार बढ़ता चला जाता है और यह जिज्ञासा तीव्र होती जाती है कि इसकी चरम परिणति कहाँ होगी। उसकी कथा समाप्त होने के बाद 'मित्र' महोदय का यह कहना कि 'जो-कुछ शेष है उसका वर्णन कर अब मै इस कथा की पूर्ति करता हूँ,' कहानी को एक झटका देकर चरम-बिन्दु की ओर प्रधावित कर देता है और पाठक कुछ कुछ आश्वस्त होने लगते है। दूसरे छोर से शुरू होने वाली कहानी भी जब अपने अवसान पर जा पहुँचती है तब सम्पूर्ण रहस्य प्रकट हो जाता है—"यह वही अभागा

मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है।" अत में दी-जाने वाली सूचना कि रात को लोग वहीं रहे और प्रातःकाल नगर की ओर लौटे, आज के पाठक के लिये निरर्थक है, किन्तु तत्कालीन पाठक संभवतः उसे भी पढ़ना चाहता था।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि इस कहानी का रचना-विधान पुराने ढंग का है; कौतूहल विन्दु भी पुरानी परिपाटी पर ही निर्मित किये गये है। वीच-वीच मे क्षेपक की तरह आने वाले निम्नाकित प्रसग तो कहानी और पाठक के वीच वड़ा भारी व्यवधान उपस्थित कर देते है—

"हमारे कतिपय पाठक हम पर दोषारोपण करेंगे कि हैं! न कभी साक्षात् हुआ, न वार्तालाप हुआ, न लम्बी-लम्बी कोर्टशिप हुई, यह प्रेम कैसा ?" महाशय ! रुष्ट न हूजिए। इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्त्तव्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है। आपको संतुष्ट करने को मै इतना और कहे देता हूँ कि इंगलेड" के भूतपूर्व प्रधानमंत्री लार्ड वेकन्स फील्डी का भी यही मत था। जो वात आलोचक के कहने की थी, वह कहानी लेखक ने, पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष का विधान करते हुए एक तार्किक की भाँति, स्वयं कही है। कहानी-कला की दृष्टि से यह प्रसंग अरोचक और निरर्थक है किन्तु इससे हमे शुक्लजी के उस विचार-सूत्र का छोर मिल जाता है जो जायसी की प्रेम-पद्धति का निरूपण करते समय प्रकट हुआ। दूसरी वात यह भी है कि हिन्दी के प्रारम्भिक कथा-साहित्य मे लेखक का वीच-वीच मे पाठको से वार्तालाप करने के लिये कहानी के प्रवाह को रोक देना, अक्सर पाया जाता है। यह प्रवृत्ति इतनी व्यापक हो गई थी कि शायद ही कोई तत्कालीन-कहानी या उपन्यास इससे बच सका हो। ऐसी दशा में इसे हम उस युग की ही त्रुटि मान सकते हैं।

अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, शुक्लजी ने प्रकृति के स्वच्छन्द रूप के दर्शन का अवसर भी निकाल ही लिया है किन्तु इतना ध्यान रखा है कि उनका प्रकृति-प्रेम कथा-प्रवाह में बाधा न बने; वातावरण के निर्माण के लिए ही उन्होने उसका प्रयोग किया है। जैसे—

"हम लोग नगर से बहुत दूर निकल गए। देखा तो शनैः शनै भूमि में परिवर्तन लक्षित होने लगा; अरुणता मिश्रित पहाड़ी रेतीली भूमि, जंगली बेर मकोय की छोटी-छोटी कंटकमय झाड़ियाँ दृष्टि के अन्तर्गत होने लगीं। अब जान पड़ा कि हम दक्षिण की ओर झुके जा रहे है। संध्या भी हो चली। दिवाकर की डूबती हुई किरणों की अरुण आभा झाड़ियों पर पड़ने लगी। इधर प्राची की ओर दृष्टि गई; देखा तो चन्द्र-देव पहले ही से सिंहासनारूढ़ होकर एक पहाड़ी के पीछे से झाँक रहे थे।"

कहानी के अन्तर्गत, प्रेम का जो आदर्श प्रतिष्ठित किया गया है उसकी व्याख्या तो लेखक द्वारा आक्षिप्त टिप्पणी मे स्वयं कर दी गई है, इसलिए उसके ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नही।

भाषा के सम्बन्ध में एक बात कहनी आवश्यक है। शुक्लजी का यह विचार था कि उपन्यास और कहानी के भीतर रमणीय दृश्यो की योजना हो तो अच्छा है; और उसके लिए भाषा भी कुछ विशेष प्रकार की शब्दा-वली से युक्त होनी चाहिए। इसका कारण उन्होने यह दिया कि ऐसा करके हम आधुनिक उपन्यास और कहानियो को पुराने कथात्मक गद्य-काव्यो (जैसे कादम्बरी और दशकुमार चरित) के साथ जोड देंगे। अपनी लिखी कहानी मे भी दृश्यो की योजना मे ऐसी ही अलंकृत भाषा लाने का प्रयास उन्होने किया है। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है।

प्रारम्भिक युग को देखते हुए शुक्लजी की यह कहानी असफल नही कही जा सकती।

कोश-निर्माण :—

शुक्लजी 'हिन्दी-शब्द-सागर' के संपादक-मण्डल के प्रमुख सदस्य थे। उन्होने प्रारम्भ से अन्त तक इस कार्य में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस कार्य को सम्पन्न करने मे उन्होने जितनी सहायता पहुँचाई इसका ठीक-ठीक पता लगना तो सम्भव नही, किन्तु प्रधान संपादक बाबू श्यामसुन्दर दास ने जिस रूप मे उनकी सराहना की है उसे देखते हुए इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है—

"यदि यह कहा जाय कि शब्द-सागर की उपयोगिता और सर्वांग-पूर्णता का अधिकांश श्रेय पंडित रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचारशीलता का फल है। इतिहास, दर्शन, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, साहित्य आदि के सभी विषयों का समीचीन विवेचन प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। यदि शुक्लजी सरीखे विद्वान् की सहायता न प्राप्त होती तो केवल एक या दो सहायक सम्पादकों की सहायता से यह कोश प्रस्तुत करना असम्भव ही होता।"

इतिहास, दर्शन, व्याकरण, साहित्य आदि विषयो से सम्बन्ध रखने वाली विस्तृत टिप्पणियो मे से अगर पचास प्रतिशत भी शुक्लजी द्वारा लिखी गई हो, तो वे उनके अध्ययन और विश्लेषण-क्षमता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। कही-कही ये टिप्पणियाँ निबन्ध के रूप मे भी दिखाई पडती है जिसके कारण 'शब्द-सागर' का ढाँचा विश्व-कोश का-सा हो गया है। कोश-विभाग मे कार्य करते समय शुक्लजी को अपने अध्ययन को व्यापक बनाने का पूरा अवसर मिला। इसलिए बाबू साहब का यह कथन उचित है कि "कोश ने शुक्लजी को बनाया और कोश को शुक्लजी ने।"

संपादन :—

ग्रन्थ—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के कुछ मूल्यवान ग्रन्थों का संपादन किया। इस दिशा में किया गया उनका कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। उनके समय तक हिन्दी मे पाठानुसंधान की वैज्ञानिक पद्धति का प्रचलन नहीं हुआ था और न किसी ग्रन्थ का बहुत सुन्दर सपादित सस्करण ही प्रकाशित हो सका था। इस पथ पर अग्रसर होने के लिए उन्हे अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से समतल भूमि नही मिली—अपना मार्ग निकालने के लिए उन्हे ऊबड़-खाबड, अपरिचित मार्गो से जाना पड़ा। इधर पाठ के अनुसन्धान का कार्य वैज्ञानिक-पद्धति पर चलाया जाने लगा है और अन्वेषी विद्वान् अनेक सूत्रों का आश्रय लेते हुए कवि-लिखित मूल प्रति के अधिक-से-अधिक निकट पहुँचने की चेष्टा में लगे हैं। शुक्लजी द्वारा सपादित ग्रन्थो की भी इस दृष्टि से छान-बीन हुई और नयी सामग्री ही नहीं, नये सिद्धान्त-सूत्र भी हाथ लगे है। साथ ही शुक्लजी की सीमाएँ भी स्पष्ट हुई है। लेकिन इससे उनके द्वारा किये गये कार्य का गुरुत्व कम नहीं होता।

'तुलसी-ग्रन्थावली' का संपादन उन्होंने अनेक व्यक्तियो के साथ किया था और 'भ्रमर-गीत-सार' तो सूरसागर के चुने हुए पदों का सग्रह-मात्र है। इसलिए उनकी संपादन-क्षमता का पता इन ग्रन्थो से नहीं चल सकता। 'जायसी ग्रन्थावली' का सपादन ही, उन्होंने स्वतन्त्र रूप से किया था और सयोग मे उसी के ऊपर इस दिशा मे, इधर, अधिक काम हुआ है। इसलिए शुक्लजी के सस्करण की त्रुटियाँ भी सामने आई हैं।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने, पाठालोचन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के के आधार पर, जायसी के ग्रन्थो का संपादन किया है, उन्होने अनेक नई प्रतियो का भी उपयोग किया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी कुछ नई प्रतियों का आश्रय लेकर अथवा नये अर्थ के सन्धान से, गुप्तजी के स्वीकृत पाठों मे सशोधन प्रस्तुत किया है।

शुक्लजी के संपादन की सबसे पहली सीमा तो यह है कि उन्होने जिन प्रतियो या उपयोग किया उनमें से चार मुद्रित थी, केवल एक ही हस्तलिखित थी। इससे प्रतियो के प्रतिलिपि-सम्बन्ध का उद्घाटन और मूल प्रति के निकट पहुँचने का प्रयास वे न कर सके।

दूसरे, उनके संपादन का मूल सूत्र केवल इतना ही था कि पाठ 'अवधी व्याकरण और उच्चारण तथा भाषा-विकास के अनुसार रखा' जाय। इसमे कोई सन्देह नही कि वैज्ञानिक सपादन मे भी इस सूत्र का प्रयोग अवश्य होगा, जैसा डॉ० गुप्त के ग्रन्थ मे दिखाई पडता है, किन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। कवि अपनी भाषा मे नये और परम्परा-प्राप्त पुराने रूपो का प्रयोग भी करते रहते है। यह पता लगा लेना कि जायसी ने कैसे रूपों का प्रयोग, किस प्रसंग में, किया होगा सर्वदा सम्भव नही।

शुक्लजी ने मूल पाठ तक पहुँचने के लिए सपादन का एक सहायक सूत्र यह भी रखा कि स्वीकृत पाठ का ठीक अर्थ बैठता चला जाय। पहले के प्रकाशित दो सस्करणो की निन्दा करते हुए उन्होने कहा है कि "एक चौपाई का भी पाठ शुद्ध नहीं, शब्द बिना विचार के रखे हुए हैं कि उनका कुछ अर्थ भी हो सकता है या नहीं।"

यह सूत्र सपादन मे सहायक अवश्य हो सकता है किन्तु इससे खतरा भी बहुत है। इसी सूत्र का सहारा लेने के कारण तो प्रतिलिपि-कारो ने 'पदमावत' मे पाठ-विकृतियाँ उत्पन्न की हैं। इसलिए उनका प्रयोग बहुत सावधानी के साथ होना चाहिए। जैसा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, 'पदमावत' की दो पाठ-परम्पराएँ दिखाई पड़ती हैं—एक सरल दूसरी क्लिष्ट। शुक्लजी का पाठ सरल पाठ-परम्परा का अनुगामी है किन्तु 'पदमावत' का मूल पाठ वास्तव में वही है जो क्लिष्ट-परम्परा के निकट है। लेकिन यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिए कि पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया मे भी इस सूत्र का उपयोग

बराबर होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। 'गुप्त' जी ने भी मूल पाठ पर पहुँचने के लिए अनेक स्थानों पर इसी का आश्रय लिया है। प्रसंग और अर्थ के आधार पर संगत पाठ चुनने का प्रमाण उनकी भूमिका में ही है—

"लक्ष्मी और महेश का कोई युग्म नहीं है, और लाक्षणिक अर्थ में भी लक्ष्मी (धन-संपदा) महेश के पास कभी थी, इसकी कोई कथा ज्ञात नहीं है, न यहाँ लक्ष्मी के अच्छे-बुरे होने अथवा उसके संचय या त्याग का कोई प्रसंग है। यहाँ किसी के सुनने और सुनकर रोने का भी प्रसंग नहीं है। इसलिए छंद २१२ के पाठान्तर की अशुद्धि प्रकट है।" यह सब अर्थ का विचार ही है। अन्तर केवल इतना है कि गुप्तजी ने अन्य सूत्रों का आधार लेकर 'अर्थ-विचार' को गलत दिशा में जाने से रोक लिया है।

लेकिन शुक्लजी और डॉ० गुप्त के पाठों में अन्तर होने का केवल यही कारण नहीं है कि एक ने सरल पाठ-परम्परा को अपनाया और दूसरे ने क्लिष्ट पाठ-परम्परा को। अन्तर का महत्त्वपूर्ण कारण यह रहा कि अपने पूर्ववर्ती संपादकों की भाँति शुक्लजी ने भी यही माना कि 'पदमावत' की मूल प्रति फारसी लिपि में थी, नागरी में नहीं। अतः उन्हें "बहुत स्थलों पर इस प्रक्रिया से काम लेना पड़ा है कि अमुक शब्द फ़ारसी अक्षरों में लिखे जाने पर कितने प्रकार से पढ़ा जा सकता है।"

गुप्त जी ने मूल प्रति की लिपि नागरी मानी है इसलिए शुद्ध पाठ का संधान करने के लिए वे बिल्कुल भिन्न दिशा से चले हैं।

'पदमावत' की अनेक ऐसी प्रतियों का संकेत डॉ० अग्रवाल ने भी दिया है, जिनका उपयोग वे कर नहीं सके। उन्होंने आशा व्यक्त की है कि वैज्ञानिक पाठालोचन हमें उसके मूल पाठ तक पहुँचा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस अनुसन्धान के साथ-साथ शुक्लजी का पाठ

पुराना पड़ता चला गया है और बहुत सम्भव है कि आगे चलकर वह अधिकांश मे गलत सिद्ध हो जाय किन्तु अपने युग की जिन सीमाओं और कठिनाइयों के बीच उन्होंने, जिस रूप में, इस कार्य को संपन्न किया उसका महत्त्व कम नही।

पत्रिका—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का संपादन-कार्य १० वर्षों तक किया। १९०९ से लेकर १९१४ तक और १९१८ तथा १९१९ मे यह कार्य उन्होंने अकेले किया किन्तु १९३२, '३३ तथा '३४ मे एक संपादक-मण्डल के साथ। उनके संपादन-श्रम का वास्तविक परिचय तो उन्ही अंको को देखने से मिलता है जो अकेले उनके द्वारा संपादित हैं।

× × × ×

सितम्बर सन् १९०९ से वे "नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" के संपादक हुए और वह मासिक रूप से निकलने लगी। पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य उन्होने इस प्रकार व्यक्त किया—

"हिन्दी-साहित्य की सामाजिक स्थिति का निदर्शन करना, उसकी उन्नति के उपायों पर विचार करना और उसके सम्बन्ध में जहाँ-कहीं जो बात हो उसकी सूचना देना अब से यह पत्रिका प्रधान धर्म समझेगी।"

पत्रिका के कुल १२ पृष्ठो के सीमित विस्तार मे इस व्यापक उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास उन्होंने लगातार पाँच वर्षों तक किया। इन बारह पृष्ठो की सामग्री भी अन्य लेखको से प्राप्त नही होती थी, अतः संपादक को स्वय ही उसकी पूर्ति करनी पडती थी। शुक्लजी के अनेक लेख, जिनमे 'मनोविकारों का विकास' शीर्षक लेख-माला भी है, इसी समय, लेखक का नाम दिये बिना ही, प्रकाशित हुए। लेखों को तैयार करने के अतिरिक्त, सपादक को न केवल हिन्दी-साहित्य की ही प्रगति का सूक्ष्म परिचय देना पड़ता था अपितु अन्य भारतीय-भाषाओं और कभी-कभी विदेशी भाषाओ के क्षेत्रो मे होने वाले कार्यों का भी विवरण देना

पड़ता था । इस दोहरे उत्तरदायित्व का निर्वाह शुक्लजी ने पूरी सफलता के साथ किया । उनकी संपादकीय टिप्पणियाँ इस तथ्य का प्रसारण प्रस्तुत करती हैं ।

सन् १९१० मे 'कांग्रेस' के पंडाल मे 'एक-लिपि-विस्तार कान्फ्रेंस' की बैठक हुई थी और बाद में बैठक के प्रस्तावों को क्रियान्वित करने के लिये एक समिति का गठन किया गया; किन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य से, उस समिति में उसका सेवक नहीं पहुँच सका । इसे अनुचित समझकर आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

"इस कान्फ्रेंस में जो कुछ हुआ सो अच्छा ही हुआ । पर चौथे प्रस्ताव के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना है । प्रतिनिधियों की जो कमेटी बनाई गई है वह किस बात का लक्ष्य करके ? हिन्दी के प्रसिद्ध ग्रन्थकारों और लेखकों में से किसी का नाम न देख संदेह होता है कि शायद इन प्रस्तावों को कार्य में परिणत करने के लिये उन लोगों में से किसी की आवश्यकता नहीं है जिन्होंने मान-मर्यादा बढ़ाने की चिन्ता छोड़ अपने जीवन का मुख्य भाग हिन्दी-भाषा का भण्डार भरने में लगाया है । पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०, उपाध्याय पंडित बद्रीनारायण चौधरी, पंडित अमृतलाल चक्रवर्त्ती आदि में से क्या किसी का सम्बन्ध इन प्रस्तावित विषयों में से नही है ? अन्त में हम यही कहते है कि जब तक भारतवासियों के हृदय से दिखावट और तड़क-भड़क की रुचि न जायेगी तब तक कोई सच्चा हितकर कार्य नहीं हो सकता ।"

हिन्दी की "पूर्व और वर्तमान स्थिति" का निरूपण करते हुए कहा गया है—

"हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का विचार देश में फैल रहा है। हिन्दी की शब्दावली को कुछ रूपांतरों के साथ बँगला, मराठी और गुजराती आदि में व्याप्त देख दूरदर्शियों को यह सूझने लगा है कि

हिन्दी उन स्थानों को भी साहित्यिक भाषा अच्छी तरह हो सकती है जहाँ उपर्युक्त भाषायें बर्ती जाती हैं।"

हिन्दी के रोमाचकारी उत्तेजक उपन्यासों के लेखकों को आगाह करते हुए शुक्लजी ने कहा—

"जर्मनी में उत्तेजक उपन्यासों को पढ़कर नवयुवकों में आत्म-हत्या का रोग फैल गया है। हिन्दी वालों को भी सावधान होना चाहिये।"

भारतीय सरकार ने प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिये छात्र-वृत्तियाँ घोषित की थी; किन्तु 'आधुनिक' भाषाओ के लिये कुछ नही हो रहा था, इसे लक्ष्य कर वे कहते हैं—

"भारतीय सरकार ने प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिये छात्र-वृत्तियाँ नियत की हैं .....क्या देशी भाषाओं के लिये सरकार कुछ नहीं कर सकती ?"

हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि की महत्ता को लक्ष्य कर एक टिप्पणी में उन्होने यह आशा व्यक्त की है—

"इसी प्रकार हम प्रत्येक विभाग के विद्वानों से कुछ-न-कुछ आसरा रखते हैं। जापान की राजधानी टोकियो में एक हिन्दी विद्यालय का खुलना भी कुछ कम आशा बँधाने वाली बात नहीं है। सुनते हैं कि जापानी लोग भी नागरी अक्षरों के गुण को कुछ-कुछ पहचानने लगे हैं। वे देख रहे हैं कि उनकी भाषा भी नागरी अक्षरों में बड़ी सफाई के साथ लिखी जा सकती है।"

जीवनी-लेखन—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्री राधाकृष्ण दास जी का जीवन-चरि
ही पुस्तकाकार रूप मे स्वतन्त्र ढंग से लिखा था जो काशी नागरी-प्रच
रिणी सभा से सन् १९१३ ई० मे प्रकाशित हुआ। यों तो हिन्दी-साहि
का इतिहास लिखते समय अथवा जायसी, सूर, तुलसी आदि की विस्तृ
समीक्षाये लिखते समय, उन्हें हिन्दी के लगभग सभी प्रसिद्ध-अप्रसि
कवियो तथा लेखकों की जीवन-झाँकी प्रस्तुत करनी पड़ती थी; पर
जीवन-चरित की सांगोपांगता और व्यवस्था उन सक्षिप्त जीवन-वृ
में नही आ सकी जो आलोचना अथवा साहित्य के इतिहास के अनुपा
मे रखे गये थे। इन जीवन-वृत्तो की अपूर्णता का एक कारण और था—
उपयुक्त प्रामाणिक सामग्री का अभाव। हिन्दी-साहित्य के प्रायः प्रत्ये
प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यकार की जीवनी केवल अनुमानों औ
अनुश्रुतियों पर आधारित रहती चली आई है, उसके जीवन मे घटि
होने वाली उन छोटी-छोटी घटनाओं के क्रमबद्ध विवरण की बात
दूर, जो उसके मन को विभिन्न दिशाओं और रूपों में प्रभावित कर
व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं, कवि या लेखक के जन्मकाल, स्था
आदि के विषय में भी यदि कोई निर्भ्रान्त सूचना मिल जाय तो उसे
बहुत समझना चाहिये। परिणाम यह होता है कि जब जीवन-सरणि
का अन्वेषी लेखक किसी साहित्यकार के सम्बन्ध में शोध प्रारम्भ कर
है तब वह जन्म-तिथि और स्थान सम्बन्धी परस्पर विरोधी मतवा
और अनुश्रुतियों की विशाल वाहिनी से जूझने में ही अपनी सारी शवि
लगा देता है। इसीलिये जीवनी सम्बन्धी ऐसे अनुसधानपूर्ण लेखों
प्रामाणिकता और वैज्ञानिकता का ऊपरी वातावरण तो अवश्य दी
पड़ता है परन्तु जीवन और साहित्य का एक क्रमबद्ध और समानान्
विकास नही निरूपित हो पाता जो साहित्यकार के आदर्श जीवन-चरि

के लिये आवश्यक है। अतः ऐसी जीवनियों को एक भिन्न कोटि में रख-कर देखना अधिक समीचीन होगा। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा 'जायसी' और 'सूर' के समीक्षात्मक प्रबन्धों में आई हुई जीवनियाँ इस कोटि की है। इनमें स्वतन्त्र जीवन-चरित का स्वारस्य नहीं है।

जैसा ऊपर कहा गया है 'राधाकृष्ण दास-का जीवन-चरित' सन् १९१३ ई० मे प्रकाशित हुआ—उस समय तक हिन्दी-भाषा-भाषी समुदाय साहित्यकार के वैयक्तिक जीवन को आवश्यकता से बहुत कम महत्त्व देता था। इसलिये सुधारवादी आन्दोलनो के समानान्तर बडे-बड़े धार्मिक और राजनीतिक नेताओ की शिक्षोपयोगी जीवनियों का प्रणयन तो किसी मात्रा में होता गया परन्तु किसी लेखक अथवा कवि के दैनिक जीवन के सम्बन्ध में लोगों की उदासीनता ज्यों-की-त्यो बनी रही। केवल उँगलियो पर गिने जाने वाले लेख ही उस काल की पत्र-पत्रिकाओं से ढूँढ़ कर निकाले जा सकते हैं जिनमें किसी साहित्यकार की जीवन-झाँकी सम्यक् रूप से प्रस्तुत की गई हो। स्वयं बाबू राधाकृष्ण दास ने नागरीदास का जीवनवृत्त लिखा था जो ना० प्र० सभा के एक प्रारम्भिक अधि-वेशन मे पढ़ा गया था और 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उन्होने भारतेन्दु बाबू का जीवनवृत्त लिखा जो पत्रिका के प्रारम्भ से लेकर कई अंकों तक चलता रहा। इसके अतिरिक्त कार्त्तिकप्रसाद खत्री और फ्रेड्रिक पिन्काट आदि के संक्षिप्त चरित्र भी उसी समय प्रकाशित हुए थे जिन्हे शुक्लजी ने ही लिखा था। भारतेन्दु का एक वृहत् जीवन-चरित बाबू शिवनन्दन सहाय ने भी लिखा। परन्तु शुक्लजी के जीवनी-लेखन में कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ हैं जो तत्कालीन लेखको मे नहीं मिलती और जो जीवनी के प्रमुख और आधारभूत तत्त्वों का निर्माण करके उसे अधिक उपयोगी बनाती हैं।

जीवनी-लेखन मे सामग्री-संग्रह की अत्यधिक आवश्यकता पड़ा करती है परन्तु यह बात शुक्लजी की प्रवृत्ति के विपरीत थी—'निवेदन'

में उन्होने कहा है—"एक तो जीवन-चरित लिखने में जिस सग्रह-श्रम की आवश्यकता अधिक होती है वह मेरी रुचि के अनुकूल नहीं।" शुक्लजी की स्वाभाविक रुचि गम्भीर अध्ययन, मनन और चिंतन की ओर थी, प्रचारात्मक या संगठनात्मक कार्यों के क्षेत्र मे उनकी प्रतिभा पंगु हो जाती थी। प्राचीन युग से सम्बद्ध किसी भी पुस्तक की रचना मे सबसे अधिक श्रम सामग्री के मूल और प्रच्छन्न स्रोतों तक पहुँचने ही में करना पड़ता है, विवेचन और व्याख्या का प्रश्न बाद मे उठता है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास का निर्माण करते समय भी ऐसे ही श्रम की आवश्यकता थी और यदि नागरी-प्रचारिणी-सभा की सचित सामग्री उपलब्ध न होती तो शुक्लजी अपने इतिहास का प्रस्तुत ढाँचा बना सकने मे सर्वथा असमर्थ होते। परन्तु राधाकृष्ण दास का जीवन-चरित लिखते समय सामग्री-संग्रह का प्रश्न उनके लिये उतना कठिन नही था—बाबू श्यामसुन्दर दास और केदारनाथ पाठक जैसे लोगों की सहायता के अतिरिक्त शुक्लजी की अपनी स्मरण-शक्ति भी काम दे सकती थी। काशी के अन्य लोग भी एतत्सम्बन्धी सामग्री के संचय में सहायक हो सकते थे।

पुस्तक के प्रारम्भ में राधाकृष्ण दास का वंशोल्लेख करते हुए भारतेन्दु की छत्रछाया मे उनकी साहित्यिक अभिरुचि का पनपना दिखाया गया और फिर तत्कालीन सामाजिक परिवेश द्वारा उक्त अभिरुचि का मार्जन दिखलाते हुए कहा गया है—"जहाँ देश की दुरवस्था पर शोक प्रकट किया जाता था, समाज की अधमगति की आलोचना होती थी, हिन्दी की उन्नति के उपाय सोचे जाते थे, वहाँ रह-रहकर बालक राधाकृष्ण बूढ़ों के भी कान काटने लगे।" चरित-नायक महोदय की कर्त्तव्य-परायणता और उत्साह को लक्ष्य कर शुक्लजी ने कहा—

"वास्तव में यदि यह उदयकाल से ही वायु के समान चंचल होकर समय-समय पर भ्रम-रूपी मेघों को न छाँटते रहते तो भारतेन्दु की शीतल

किरणें बहुतेरे अंधकार-मग्न हृदयों तक न पहुँच पातीं। यदि यह सच्चा परखने वाला न होता तो आज हम उस नर-रत्न के बहुत से अलौकिक गुणों को न जान सकते।"

इस प्रकार प्रारम्भ से बाबू राधाकृष्ण दास जी को साहित्यानुरागी तथा विद्या-व्यसनी के रूप में प्रस्तुत करके भारतेन्दु के प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाया में इनके जीवन के समुल्लासपूर्ण उपःकाल का विवरण दिया गया है। परन्तु अभी बाबू राधाकृष्ण दास की साहित्य-यात्रा प्रारम्भ ही हुई थी और उनके डगमगाते कदमों में सुदृढ़ता तथा सुस्थिरता धीरे-धीरे आनी ही शुरू हुई थी कि अकस्मात् भारतेन्दु की कला सर्वदा के लिये अस्त हो गई। राधाकृष्ण दास के किशोर-हृदय पर इस घटना का बडा घातक प्रभाव पडा। इसका उल्लेख करते समय भारतेन्दु के प्रति अत्यधिक श्रद्धा होने के कारण शुक्लजी की शब्दावली भी शोक से आविष्ट हो उठी—

"जिन आँखों से बाबू राधाकृष्ण दास उस भारतेन्दु के माधुर्य का विकास देखते थे उन्हीं से आज इस संसार से विदा होते उन्होंने देखा। वह हँसती हुई माधुर्य-मूर्त्ति सब दिन के लिए इनकी आँखों के सामने से हट गई।"

भारतेन्दु के निधन के उपरान्त इनके ऊपर विपत्तियो का पहाड़-सा टूट पड़ा। चारों ओर से छली और अवसर की ताक मे रहने वाले लोगों ने इस स्थिति से लाभ उठाने की सोची। उनके सभी छल-छन्दों से साफ-साफ बच निकलना सरल कार्य न था परन्तु ज्यो-त्यो करके ये सारी विघ्न-बाधाओं को पार कर गये और अततोगत्वा सत्य की विजय हुई। शुक्लजी कहते हैं—

"स्वार्थी लोगों ने, जिनकी दाल इनके मारे नहीं गलने पाती थी, बीच-बीच में इन पर अनेक अपवाद भी लगाये और घर में एक-दूसरे के मन में मैल भी डालनी चाही पर ये अपने कर्त्तव्य-पथ से न डिगे।"

इन कठिनाइयो से जूझने में जहाँ इनकी रचनात्मक प्रतिभा के विकास में व्याघात उपस्थित हुआ वहाँ व्यवहार-कुशलता पर शान चढती गई। शुक्लजी ने कहा है—

"ये सरस्वती के अनन्य उपासक नहीं थे। इनमें लिखने-पढ़ने की वासना इतनी तीव्र और प्रचण्ड नहीं थी कि ये संसार की और बातों की कुछ परवाह न करते। ये व्यवहार-कुशल भी बड़े थे।"

चरित-नायक के मानसिक गठन और स्वभाव का व्यंग्य-मिश्रित उल्लेख भी दर्शनीय है—

"इसी प्रकार जब इनके साथ कोई कुछ बुराई करता था तब उसे प्राय. कुछ-न-कुछ कहकर संसार की गति पर समाज की स्वार्थपरता पर ये दुःख प्रकट करते थे। अधिकांश भारतवासियों की तरह जमाने की शिकायत इन्हें भी रहा करती थी।......शुद्ध क्रोध की प्रेरणा पर इन्होंने किसी कार्य का अनुष्ठान नहीं किया। मनोविकारों में करुणा और शांति ही का संचार इनमें अधिक था।"

शुक्लजी अपनी काव्य-समीक्षा में जिस क्रोध की प्रेरणा देखने के लिए लालायित रहते थे, उसकी एकाध झाँकी बाबू राधाकृष्ण दास मे भी पाने के लिए उत्सुक थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व मे करुणा और शांति का प्राधान्य होने के कारण कर्मो की वह उदारता और लोकोपयोगिता नही प्राप्त हो सकी जो चरित्र की महत्ता का परिचय देती है।

यद्यपि शुक्लजी ने लगभग सभी प्रसिद्ध पुस्तकों की चर्चा प्रसग आने पर जीवनी-क्रम मे ही कर दी है और उसकी रचना में निहित प्रेरणा का सम्बन्ध तात्कालिक जीवनगत परिस्थितियो से जोड दिया है फिर भी पुस्तक के अन्तिम भाग मे अपने 'चरित-नायक' की रचनाओ की परिचयात्मक सूची उन्होने दी है जो अनेक कारणों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक कृतियों की अत्यन्त सूक्ष्म तथा तात्त्विक समीक्षा इन परिचयात्मक टिप्पणियों में मिलती है। ध्यान देने की बात

यह है सन् १९१३ ई० के पूर्व (जब यह पुस्तक लिखी गई थी) आचार्य शुक्ल को किसी कवि की रचनाओं पर विचार करने का यह अवसर नही मिला था। प्रयोगात्मक समीक्षा के क्षेत्र में अभी वे कुछ पग ही बढ़ा सके थे। इसलिए इन परिचयात्मक टिप्पणियों मे उनकी समीक्षा का उषःकाल देखा जा सकता है। ये टिप्पणियाँ सिद्ध कर देती हैं कि अत्यन्त प्रारम्भ से ही उनमे अंतः प्रवेशशीला वुद्धि और सूक्ष्म सौन्दर्यबोध का वड़ा अनोखा सामंजस्य था। यहाँ शुक्लजी ने निस्संग वस्तून्मुखी दृष्टि से काम लिया है—मिथ्या सराहना अथवा निन्दा की भावना से नही। "महाराणा प्रतापसिंह" नाटक के परिचय मे त्रुटियों की ओर अगुलिनिर्देश करते हुए कहा—

"मीना बाजार और अकवर के महल आदि का दृश्य आगरे में न दिखाकर दिल्ली में दिखाया गया है। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि अकवर आगरे में रहता था, दिल्ली में नहीं........भूमिका में सलीम का मेवाड़ की चढ़ाई में जाना इतिहास-विरुद्ध बतलाकर भी नाटक में इसका लड़ाई पर जाना दिखाया गया है।"

इसके अतिरिक्त शुक्लजी के जीवनी-लेखन से कुछ अन्य विशिष्टतायें हैं जिनके कारण पुस्तक में औपन्यासिक कथा-रस का माधुर्य आ गया है। पहली विशेषता यह है कि उन्होंने निजी साक्षात्कार तथा अनुभव का उल्लेख करके जहाँ एक ओर घटना-प्रसंगो को प्रत्यक्ष किया है वहाँ पाठक की कथानुरागिणी वृत्ति को भी उत्तेजित किया है।

"मैंने देखा कि एक चारपाई पर ये बिल्कुल अशक्त और क्षीण होकर पड़े हैं, बीच-बीच में अपने रोग-जनित कष्ट को आस-पास बैठे हुए लोगों से कहते जाते हैं। मुझे देखकर इन्होंने तुरन्त बात फेर दी और हिन्दी में चर्चा चला दी।"

बावू राधाकृष्ण दास के गोलोकवास के उपरान्त एक शोक-सभा में बोलते हुए पंडित सुधाकर द्विवेदी ने कहा था कि, "बहुत-सी ऐसी बातें

थीं जो मुझे उनसे पूछनी पड़ती थीं। देखिए एक पद का अर्थ मैं दूसरा लगाता था, बाबू राधाकृष्ण दास ने दूसरा अर्थ समझाया।" इस वक्तव्य को लक्ष्यकर शुक्लजी ने अपनी पद-टिप्पणी में लिखा—"इस पर मुझे अपने एक मित्र की याद आई, जो कहीं डाक्टरी की नियमित शिक्षा न पाकर भी अपनी डाक्टरी जमा रहे थे। मैंने एक वार उनसे उनके बीमार पिता का स्वास्थ्य पूछा। उन्होंने कहा, "वस इसी से समझ जाइये कि मैं और डाक्टर बुलाने जा रहा हूँ।" मेरे मित्र को तो लोग चाहे जो कहें पर संस्कृत के पंडितों के लिये यह कोई बहुत बड़ा बेढंगापन नहीं।"

दूसरी विशेषता यह है कि जीवनी की अधिकांश घटनाओं के प्रति लेखक का रागात्मक लगाव प्रकट हुआ है। मनोनुकूल घटनाओं और विचारो का विवरण आवेश और उल्लास के साथ प्रस्तुत किया गया और मन के विपरीत पडने वाले विचारो का पहले तो उल्लेख ही नही किया गया और यदि किया गया तो, इस प्रकार, जैसे किसी विवशता मे वैसा करना पड़ रहा हो। एक बात ध्यान देने की है कि शुक्लजी का भावावेश केवल उन्ही अवसरों पर प्रकट हुआ है जहाँ हिन्दी-भाषा और साहित्य के सम्मान का प्रश्न उठा है। नितान्त वैयक्तिक घटना-प्रसगो का विवरण लेखक ने प्रायः तटस्थ भाव से उपस्थित किया। शुक्लजी की नस-नस मे व्याप्त हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रति प्रेम ही इसके लिये उत्तरदायी है। नागरी-प्रचारिणी सभा-भवन के उद्‌घाटन अवसर पर काशी की गलियाँ किस प्रकार हिन्दी-लेखको और कवियो से भर उठी थी, इसका उल्लेख करते हुए उन्होने कहा—

"इस अवसर पर प्रायः बहुत से हिन्दी प्रेमी वहुत दूर-दूर से आये थे। काशी की जिस गली में जाइये दो एक हिन्दी के लेखक प्रसन्नमुख आते-जाते दिखाई पड़ते थे। वड़ा मनोहर दृश्य था।"

इसी प्रकार राधाकृष्ण दास की हिन्दी सम्बन्धी कर्त्तव्यनिष्ठा तथा उत्सर्ग के साथ अपने हृदयगत भाव का सामंजस्य करते हुए लिखा है—

"विचारने की बात यह है कि यह लोकापवाद, मनस्ताप और शारीरिक कष्ट इन्होंने किसके लिये सहा। क्या अपने लिए ? नहीं नागरी प्रचारिणी-सभा के लिए, हिन्दी के लिए। थे तो भारतेन्दु ही के फुफेरे भाई न !"

इन्ही आवेगपूर्ण वर्णनों में शुक्लजी अपने विचारों की कुंजी भी छोडते गए हैं—

"मुख्य बात तो यह थी कि ये (बा० राधाकृष्ण दास) संशोधक या प्रवर्त्तक प्रसिद्ध होने की इच्छा से कोई कार्य नहीं करते थे। ये उन लोगों से सर्वथा भिन्न थे जो मर्यादाबद्ध हिन्दू समाज को विशृंखल करके विलायती ब्रह्मचर्य का सुख भोगना चाहते हैं।"

मन की विपरीत घटना का उल्लेख करते समय शुक्लजी की विवशता और रुचि छिपाये नही छिपती—ऐसा लगता है कि जैसे यदि वह उल्लेख जीवनी-क्रम को सुव्यवस्थित करने के लिये नितान्त अनिवार्य न होता तो वे उसकी उपेक्षा कर जाते। भारतेन्दु का प्रसंग आने पर लिखा हैं, "इस सम्बन्ध में एक और व्यक्ति का नाम लेना पड़ता है। वह मल्लिका थी—वही मल्लिका थी जिसका बाबू हरिश्चन्द्र के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध था।" भारतेन्दु के प्रति शुक्लजी को बचपन से अगाध श्रद्धा थी। पुस्तको में अनेक अवसरो पर वह व्यक्त भी हुई है। उस श्रद्धा के कारण ही मल्लिका के प्रसंग को प्रस्तुत करते समय इन्हे इतना अधिक संकोच और ग्लानि हुई।

यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जीवनी-लेखन में ऐसी रागद्वेषपूर्ण आसक्ति वैज्ञानिकता और तटस्थता को ठेस नही पहुँचाती, क्या ऐसी

प्रवृत्ति वस्तु-सत्य के ऊपर पर्दा नहीं डालती अथवा उसे अतिरंजित नहीं करती। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि शुक्लजी का रागात्मक लगाव एक सीमा तक ही पहुँचा, उनकी दृष्टि गुण और दोष दोनों ही पर समान रूप से बनी रही। इस दृष्टि से उन्होंने जीवन-चरित को यथासम्भव सत्याधारित और रोचक बनाया है। इसका सबसे पुष्ट प्रमाण यही है कि पाठक का हृदय भी उनके राग और द्वेष में सदा साथ चला चलता है।

अनुवाद-कार्य—

अनुवाद का कार्य बड़े महत्त्व और उत्तरदायित्व का है। इससे भाषा और साहित्य दोनो को समृद्धि और गौरव प्राप्त होता है। विश्व-जीवन और विश्व-साहित्य में अनुस्यूत एकता का बोध केवल सच्चे अनुवादक ही करा सकते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य संसार की विविध भाषाओं का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता; अधिकतर मनुष्यों का अच्छा अधिकार केवल एक या दो भाषाओ पर ही होता है। ऐसी दशा में वह विश्व-साहित्य के विविध-विचारों से परिचय ही नही प्राप्त कर सकता, यदि वह अनुवादों की सहायता न ले। और यदि अनुवादक अपने कार्य में पूर्णतया सफल है तो मूल पुस्तक को पढ़ने की आवश्यकता ही नही रहती। एमर्सन का यह कथन सत्य है कि, "अपनी मातृभाषा में पुस्तको का अनुवाद मिलने पर भी मेरा उन सब पुस्तकों को उनकी मूल भाषाओं में पढने की इच्छा करना वैसा ही है, जैसा कि नाव को छोड़कर नदी को पार करने की इच्छा करना।"

अनुवाद की सफलता अधिकतर निम्नांकित बातों के ऊपर निर्भर करती है—

अनुवादक केवल अनुवादक के रूप में ही रहे—वह स्वतंत्र विचारो का उद्भावक न हो। वह पूर्ण तटस्थता और ईमानदारी के साथ मूल लेखक के विचारों को अपनी भाषा में ज्यो-का-त्यों उठाकर रखने वाला है। जितनी सफलता के साथ वह विचारो को अपनी अनूदित रचना मे प्रतिबिम्बित करता है उतनी ही सचाई उसके अनुवाद में पाई जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि अनुवादक का व्यापक अधिकार दोनों भाषाओ के ऊपर हो, यानी दोनों भाषाओं की विभिन्न शब्दावलियों से जिन धारणाओं (Concepts) का बोध होता हो उनीक पूरी और सच्ची परख अनुवादक के लिए आवश्यक है।—शब्दों द्वारा

निर्मित बिम्बो का बोध ही अपेक्षित है केवल अर्थ-बोध नही। इसका अर्थ यह है कि मात्र शब्दकोप की सहायता से प्रामाणिक और सुन्दर अनुवाद नही प्रस्तुत किया जा सकता।

अनुवादक को यह स्वतंत्रता नही रहती कि वह अपने विचारो का समावेश अनुवाद मे कर सके, क्योंकि बीच-बीच मे आने वाली लेखक के स्वतंत्र विचारों वाली थिगलियाँ अनुवाद के वास्तविक उद्देश्य को अवश्य ही विकृत कर देती हैं। हाँ, यदि किसी स्थान पर मूल विचारों के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबद्ध विचारों का उल्लेख करना आवश्यक हो तो ऐसा किया जा सकता है।

भाषा की प्रकृति का ध्यान रखना भी अनुवादक के लिये नितान्त अनिवार्य है। जिस भाषा में अनुवाद किया जा रहा है उसकी शब्द-परम्परा, अर्थ-परम्परा, वाक्य-योजना आदि का पूरा ध्यान न रखने से भाषा के एक ऐसे स्वरूप का निर्माण हो जाता है जिसे उस भाषा का बोलने वाला भी बड़ी कठिनाई से (और यदि संभव हुआ तो कभी-कभी मूल-ग्रन्थ से सहायता लेकर ही) समझ पाता है। अनुवादक का यह कृत्य किसी भाषा और उसके पाठक के लिये निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी है। इससे भाषा का स्वरूप विगड़ जाता है।

जहाँ अनुवादक का उद्देश्य लेखक के विचारों और भावो का छायानुवाद-मात्र रहता है, वहाँ उसके ऊपर उक्त प्रतिबन्ध नही रहता, उसको अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता रहती है। लेकिन मूल पुस्तक के आधारभूत विचारों का पूरा प्रतिबिम्ब तो उसे उतारना ही पड़ता है।

हिन्दी में अनुवाद का कार्य भारतेन्दु-युग में प्रारम्भ हो गया था किन्तु उसमे व्यवस्था का अभाव रहा। और बहुधा अनुवाद के मूल-सिद्धान्त की उपेक्षा भी रहती थी। प्रायः ऐसा होता था कि मूल-लेखक के विचार अपने वास्तविक रूप मे प्रस्तुत नही हो पाते थे, कुछ तो भापा की असमर्थता के कारण और कुछ अनुवादकों की अपनी त्रुटि

के कारण। अनुवाद का यह वस्तु-सत्य अधिकांश लोगों के लिए अगोचर ही रहा कि उसमे पूरी सावधानी और तटस्थता के साथ दूसरो के विचारों को प्रतिबिम्ब करना होता है।

द्विवेदी-युग में स्थिति कुछ बदली अवश्य किन्तु अनुवाद का वास्तविक लक्ष्य अभी तक उपेक्षित ही रहा, विचारों का पूर्ण-रूपान्तर प्रायः नही मिलता।

शुक्लजी के अनूदित साहित्य को मूल के समानान्तर रखकर देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका लक्ष्य मूल पुस्तक मे व्यक्त विचारो को हिन्दी में यथावत् रखने का नही था। यानी, वे विशुद्ध और वैज्ञानिक अनुवाद का लक्ष्य लेकर नही चले थे। इसलिये कही तो मूल विचार अनावश्यक जानकर छोड़ दिये गये और कही प्रसंग को पूरा करने के लिए अपनी ओर से नये विचार जोड़े गये; इसी प्रकार कही-कही विदेशी पौराणिक कहानियों के उदाहरण बिल्कुल छोडकर उनके स्थान पर भारतीय पुराण और इतिहास की कहानियाँ जोड दी गई।

आदर्श जीवन की भूमिका मे शुक्लजी यह कहकर चले कि "पुस्तक को इस देश की रीति-नीति के अनुकूल करने के लिए और भी बहुत-सी-बातें घटाई-बढाई गई है।" इसलिए यदि मूल मे यह लिखा गया था कि, **"Well, Raleigh was every inch a man, a brave soldier, a brilliant courtier, and yet a mirror of courtesy. No body, will accuse Sir Philip Sidney of having been deficient in manliness and yet his fine manners are proverbial."** तो शुक्लजी ने उसे अपने अनुवाद में यह रूप दे दिया—

"महाराज रणजीत सिंह के समान अनुभवी और पराक्रमी कौन होगा? पर उनकी नम्रता के दृष्टान्त प्रसिद्ध है। रहीम खानखाना जैसे

विद्वान् थे वैसे ही वीर भी थे पर उनकी रचनाओं में कितनी सिधाई और नम्रता टपकती है।"

शुक्लजी ने मूल पुस्तक के कई अध्यायो को तत्कालीन हिन्दी-पाठकों के लिए अनावश्यक जानकर छोड़ दिया। इसका कारण यह था कि वे अनुवाद ही नही कर रहे थे अपितु मूल-पुस्तक के आधार पर एक नई पुस्तक की रचना कर रहे थे—इसका सकेत उन्होने भूमिका मे ही दे दिया था।

यही दृष्टिकोण उनके तमाम अनुवादो मे मिलता है। प्रायः सभी पुस्तको मे थोडे ही ऐसे प्रसंग मिलेगे जो वाक्यशः या शब्दशः अनूदित हुए हैं, लेकिन यह बात निर्विवाद है कि हिन्दी भाषा की आन्तरिक प्रकृति से परिचित होने और उस पर पूर्ण अधिकार रखने के कारण शुक्लजी अनुवाद का बहुत भव्य और आदर्श रूप प्रस्तुत कर सके। इन प्रसंगों को देखने से ऐसा विदित होता है कि यदि वे वैज्ञानिक अनुवाद के नियम का पालन करते और अनुवाद के लिये कुछ और अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को चुनते तो हिन्दी के लिए अमूल्य सम्पत्ति और नई दिशा का संधान दे जाते। उनकी चुनी हुई अधिकांश पुस्तकें शिक्षात्मक हैं और द्विवेदी-युग के साधारण रुचि वाले पाठकों को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। केवल 'विश्व-प्रपंच' ही एक जटिल वैज्ञानिक ग्रन्थ है जिसका अनुवाद भी श्रम-साध्य था। ध्यान मे देखने पर विदित होता है कि इस पुस्तक में भी शुक्लजी ने विचार-परम्परा को बनाये रखने का ध्यान ही अधिक रखा है, शब्दशः अनुवाद के फेर में वे नही पडे। इसलिये यदि कोई लेखक हैकल के विचारों को उद्धृत करना चाहता है तो वह शुक्लजी कृत अनुवाद को उद्धृत करके अपना काम ठीक-ठीक नही चला सकता।

'शशाक' के प्रसंग मे तो परिस्थिति और भी विलक्षण हो गई है। उसके अन्तिम भाग में तो केवल घटनाये ही इधर-उधर नही जोडी गई

है अपितु बिल्कुल नये पात्रो की सृष्टि कर दी गई है—जिनका मूल ग्रन्थ मे कोई विवरण नही था। अन्य ग्रन्थो में तो कुछ विषयों के घटाने-बढ़ाने से कोई विशेष अन्तर नही पड़ता किन्तु उपन्यास में घटनाओं का रूपांतर और नवीन पात्रों का समावेश तो उसे अनुवाद रहने ही नही देता—दूसरी ओर उसे मौलिक रचना का महत्त्व भी नही प्रदान किया जा सकता। 'शशांक' एक ऐतिहासिक-उपन्यास है और यदि इतिहास की घटना को लेकर मूल लेखक से अनुवादक का मतभेद है तो उसे अपनी 'भूमिका' या टिप्पणी के रूप मे अलग से दे सकता है। मूल उपन्यास मे परिवर्तन कर देने से तो अनुवाद का स्वरूप ही विकृत हो जाता है।

'आदर्श जीवन' की भाषा तो हिन्दी की प्रकृति के इतनी अनुकूल है कि अनेक लोगो को भ्रम हुआ कि पूरी पुस्तक मौलिक है। यहाँ तक, कि जब पुस्तक का दूसरा अध्याय—सासारिक जीवन—किसी पाठ्य-संग्रह मे 'मित्रता' शीर्षक से समाविष्ट कर दिया तो लोगो ने उसे पूर्णतया मौलिक माना। श्री शिवनाथ एम० ए० ने तो अपने ग्रन्थ में इस निबन्ध को मनोविकारो पर लिखा गया पहला निबन्ध मान कर विचार किया है। किन्तु इसकी शैली को देखकर उन्हे आश्चर्य अवश्य हुआ। उन्होंने लिखा—

"'मित्रता' नामक निबन्ध देखने से विदित होता है कि यह शिक्षात्मक और थोड़ी विद्या बुद्धि वालों के लिए है। यह बात इसकी वाक्य-योजना में व्यवहृत आज्ञासूचक (इंपरेटिव) वाक्यों से स्पष्ट है।"

'आदर्श जीवन' पुस्तक, पूर्ण रूप से उसी शैली पर लिखी गई है जिसका उल्लेख उक्त उद्धरण मे हुआ है। इस सूचना से लेख की मौलिकता के भ्रम का निराकरण हो जाना चाहिए।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि—

(१) शुक्लजी के अनुवादो मे विषय की विविधता है, किन्तु उनका चुनाव करने में वे द्विवेदी-युग के पाठकों की सामान्य रुचि से ही अनुशासित है।

(२) अधिकांश अनुवाद भावानुवाद है क्योकि वे मूल पुस्तक के आधार पर एक अन्य पुस्तक लिखने के उद्देश्य को पूरा करते है।

(३) अनुवाद के मूल तत्त्वों मे से केवल एक की—हूबहू अनुवाद की—उन्होने उपेक्षा की है, किन्तु शेष का पालन किया है। भाषा की प्रकृति का जितना ध्यान वे रखते थे उतना हिन्दी के कम अनुवादक रख पायेंगे।

(४) अनुवाद के सभी तत्त्वों का निर्वाह करके वे हिन्दी लेखको के लिए कोई आदर्श पद्धति नही स्थापित कर सके। अतः महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इस दिशा मे उनका कार्य प्रकाशस्तम्भ नही बन सका।

इस क्षेत्र मे शुक्लजी की सीमाये द्विवेदी-युग की सीमाये हैं—युग-सीमा को ध्यान मे रखकर ही उनके अनुवाद-कार्य का मूल्याकन होना चाहिए। नागरी-प्रचारिणी-सभा की जिस योजना के अन्तर्गत उन्होने अपना कार्य किया उसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।